पत्रकारिता के अनुभव

*

इन्द्र विद्यावाचस्पति

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
६६, दरियागंज, दिल्ली

निवेदन

कई महीने पहले की बात है। श्रद्धेय इन्द्र जी ने एक दिन हमें बुलाया, इस पुस्तक की पाण्डुलिपि दिखाई और कहा कि तुम चाहो तो इसे प्रकाशित कर लो। हमने अपने-आप को गौरवान्वित समझा और पाण्डुलिपि लेकर चले आये।

आज वह पाण्डुलिपि मुद्रित होकर प्रकाशित हो रही है परन्तु इसे अपने समर्थ शब्दों के साथ सर्वसाधारण को भेंट करने वाले वे आजानुबाहु हमारे बीच में नहीं हैं। अपनी इस अत्यन्त प्रिय कृति के आधे से अधिक प्रूफ देखने की अनुकम्पा भी उन्होंने की थी परन्तु इसके सम्बन्ध में वे जो कुछ कहना चाहते थे वह उनके साथ वहां चला गया है, जहां किसी शरीरधारी का प्रवेश आज तक नहीं हुआ।

श्रद्धेय इन्द्र जी की अनुपस्थिति में उनकी सहधर्मिणी परमादरणीया चन्द्रवती जी ने हमारी प्रार्थना पर शोकाकुल अवस्था में भी 'दो शब्द' लिख देने की जो अनुकंपा की है उसके लिए हम आभारी हैं।

—प्रकाशक

क्रम

चित्र-सूची

: १ :

शैशव

यह भी तो आकस्मिक घटना ही है कि जिस वर्ष मेरे पिता जी ने साप्ताहिक 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र का सम्पादन और प्रकाशन प्रारम्भ किया, उसी वर्ष मेरा जन्म हुआ, शायद बचपन से ही मेरे मन में पत्रकार बनने की धुन होने का मुख्य कारण यही हो। मेरे अग्रज भाई हरिश्चन्द्र जी मुझ से दो वर्ष बड़े थे। घर से एक साप्ताहिक पत्र निकलने का संस्कार उनके मन पर भी पड़ रहा था। परिणाम यह हुआ कि जब हम दोनों भाई कुछ पढ़ने-लिखने लगे तो हमने जो पहला सहोद्योग किया वह एक छोटे से हस्तलिखित पत्र के रूप में था, जिसका नाम 'सत्य प्रकाशक' या 'सत्य विचारक' रखा गया था। घर में बड़ी बहनों के लिए 'सरस्वती' आया करती थी। उन दिनों की 'सरस्वती' नवागता वधू की तरह सब की लाड़ली और आकर्षक होती थी। हम दोनों भाई इकट्ठे बैठ कर उसके सुन्दर चित्र देखा करते और कहानियाँ पढ़ा करते थे। हमारे सहोद्योग से तैयार होने वाले उस हस्तलिखित अर्धमासिक पत्र पर 'सद्धर्म प्रचारक' और 'सरस्वती' दोनों की छाप रहती थी। हम

प्रचारक' को उर्दू से हिन्दी में परिवर्तित कर दिया। पहले वह जालंधर से निकलता था, अब गुरुकुल कांगड़ी से निकलने लगा। यह पत्र उस समय आर्यसमाज का मुख्य प्रचारक माना जाता था। इसमें अग्रलेख प्रायः पिता जी की लेखनी से निकले हुए होते थे, जो आर्य समाजियों के लिए पथ-प्रदर्शन का काम देते थे।

जिन दिनों की बात मैं सुनाने लगा हूँ, उन दिनों पं० ब्रह्मानन्द जी (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) 'सद्धर्म प्रचारक' के सहायक सम्पादक थे। पिता जी कहीं बाहर गए हुए थे। सम्पादन का कार्य मुख्य रूप से पं० ब्रह्मानन्द जी ही करते थे। आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् प० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ ने वैदिक साहित्य पर कुछ अन्वेषणात्मक ग्रन्थ लिखे थे। काव्यतीर्थ जी हमारे अध्यापक भी थे। उनके ग्रन्थों को पढ़ कर मेरे मन में, न जाने क्यों, कुछ विद्रोह-सा पैदा हुआ। उस समय मैं शायद गुरुकुल की तेरहवीं श्रेणी में पढ़ता था। एक दिन जोश जो आया तो काव्यतीर्थ जी के ग्रन्थों की आलोचना में एक लम्बा लेख लिख डाला; यद्यपि इसका कोई विशेष कारण नहीं था कि उस लेख में काव्यतीर्थ जी और उनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में इतने व्यंगों और तीखे उपहासों का प्रयोग किया जाता, पर सम्भवतः उस समय की हिन्दी समालोचना-प्रणाली का मेरे युवक-हृदय पर ऐसा असर हुआ कि उस लेख में तीव्रता के साथ रोचकता आ गई। यह लेख ले कर मैं उप-सम्पादक जी के पास पहुँचा और निवेदन किया कि आप इस लेख को 'सद्धर्म प्रचारक' में प्रकाशित कर

दीजिए। वे दुविधा में पड़ गए। लेख उन्हें पसन्द आया, पर उसे छापें कैसे? गुरुकुल के एक छात्र का लिखा हुआ लेख और वह भी एक अध्यापक के ग्रन्थों की आलोचना! लेकिन उप-संपादक जी को लेख पसन्द आ चुका था। अतः परामर्श के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि लेख तो प्रकाशित किया जाए, परन्तु उसमें मेरा नाम न रहे। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि यह बात सर्वथा गुप्त रखी जाए कि लेख किसका है। प्रेस वालों को सर्वथा सावधान कर दिया जाए कि वे रहस्योद्भेद न होने दें। मैंने अपना उपनाम उस लेख के लिए 'क्ष' रखा।

लेख प्रकाशित हो गया, तो आर्य जगत में बहुत हलचल मच गई। काव्यतीर्थ जी आर्य-समाज के प्रमुख विद्वान् थे। उनके ग्रन्थों की तीव्र आलोचना से आर्य लोग असमंजस में पड़ गए और सोचने लगे कि क्या सचमुच काव्यतीर्थ जी ने सिद्धान्त-विरुद्ध बातें लिखी हैं? गुरुकुल में तो रात-दिन चर्चा ही उस लेख की होती थी। काव्यतीर्थ जी वहीं रहते थे और वेद पढ़ाते थे। चर्चा का विशेष विषय यह था कि लेख का लेखक कौन है? पढ़ाई के समय श्रेणी में चर्चा चली, तो काव्यतीर्थ जी ने स्वाभाविक रोष भरे शब्दों में कहा, "यह बड़ा धूर्त है, जिसने अपना नाम छिपा लिया है। यह नास्तिक मालूम होता है।"

सब लोगों ने 'क्ष' के बारे में अपनी अपनी कल्पनायें कीं। आर्य समाज में ऐसे विद्वान तो अनेक थे, जो सर्वथा कट्टरपन्थी होने के कारण उस लेख के छिपे लेखक समझे जा सकते थे,

परन्तु वे संस्कृत के विद्वान् नहीं थे और जो संस्कृत के विद्वान् थे, वे नवीन शैली की हिन्दी के लेखक नहीं थे। लोग इसी चक्कर में पड़ कर यह न समझ सके कि 'श' के आवरण में छिपा हुआ कौन व्यक्ति है।

काव्यतीर्थ जी ने 'श' के लेख का लम्बा और युक्तिपूर्ण उत्तर लिख कर 'सद्धर्म प्रचारक' के उप-संपादक को भेज दिया। अगले सप्ताह वह भी छप गया। अब मेरे सामने यह प्रश्न उठा कि उस लेख का उत्तर दिया जाय या नहीं? दूरदर्शिता कहती थी कि न दिया जाए और इस वाग्विलास को समाप्त किया जाए, परन्तु बचपन का उत्साह उकसाता था कि प्रतिपक्षी के लेख का उत्तर अवश्य दिया जाए। अन्त में बचपन की जीत हुई और मैंने काव्यतीर्थ जी के लेख का उत्तर दूसरे ही सप्ताह 'सद्धर्म प्रचारक' में प्रकाशित करा दिया। उस लेख की भाषा पहले लेख की भाषा की अपेक्षा भी अधिक तीखी और व्यंग्यपूर्ण थी। उससे काव्यतीर्थ जी बहुत विचलित हो गए और यह खोज लगाने के लिए कि लेखक कौन है, लाहौर चले गए। वहाँ पांच-चार दिन रह कर बहुत छान-बीन की, परन्तु कुछ हाथ न लगा। गुरुकुल वापस आकर उन्होंने दूसरे लेख का उत्तर भी प्रकाशित कराया। दूसरे लेख में काव्यतीर्थ जी ने अपना रोष काफ़ी उग्र शब्दों में प्रकट करते हुए लेखक के लिए 'कायर' आदि अनेक विशेषणों का प्रयोग किया।

मैं अब समझता हूँ कि मुझे तीसरा लेख बिलकुल नहीं लिखना चाहिए था, पर उस समय लेखनी की खुजली को मैं

न रोक सका और उस विवाद का तीसरा लेख लिख कर प्रका-शित करा दिया। उस लेख के प्रकाशित होने के पश्चात् मुझे स्वयं बड़ा दुःख हुआ, क्योंकि काव्यतीर्थ जी बहुत दुःखी हो गए थे। उन्हें दुःख देना मुझे अभीष्ट नहीं था। मैंने तो केवल वाग्विलास समझ कर लिखना आरम्भ किया था; उससे काव्यतीर्थ जी खिन्न होकर रोगी हो जाएँगे, यह मुझे पता नहीं था। काव्यतीर्थ जी सुस्त और रोगी हो गए और वह मेरा नाम्युद्ध समाप्त हो गया।

ये तीन लेख पत्रकारिता के क्षेत्र में मेरे पहले पत्र थे। उनकी स्थायी उपयोगिता कुछ भी नहीं थी; तो भी मुझे यह अनुभव करके कुछ सन्तोष सा हुआ कि पाठकों ने उनकी स्तुति या निन्दा जो कुछ भी की, खूब जोर से की। मैंने समझा कि और कुछ बनूँ या न बनूँ, मैं लेखक अवश्य बन सकूँगा।

दैनिक पत्र के सम्पादन का पहला परीक्षण

मेरी पत्रकारिता की ओर प्रवृत्ति और लेखक बनने की महत्वाकांक्षा को पुष्टि देने का अवसर शीघ्र ही आ गया। इंग्लैंड के राजा, भारत के सम्राट्, भारतवासियों के हृदयों में राजभक्ति को जागृत करने के लिए भारतवर्ष में आए और दिल्ली में उनका दरबार हुआ। उस अवसर पर मेरे अत्यन्त आग्रह पर पिता जी ने निश्चय किया कि कुछ दिनों के लिए 'सद्धर्म प्रचारक' का दैनिक संस्करण निकाला जाए। मैं अभी विद्यार्थी ही था, स्नातक नहीं बना था। दैनिक के सम्पादन का कार्य मैंने अपने जिम्मे लिया। गुरुकुल का प्रेस तो मानो

बड़ा था; गंगा के पार उस वनस्थली में दैनिक पत्र के लिए सामग्री कहाँ से मिलती। तो भी बहुत प्रयत्न करके कुछ दिनों तक—शायद दस दिन तक—'सद्धर्म प्रचारक' का दैनिक संस्करण निकाला गया। आर्थिक दृष्टि से तो वह पूरी तरह घाटे का सौदा था—न स्थानीय बिक्री थी और न एजेंसियों का प्रबन्ध। बस इतनी सन्तोष की बात समझिए कि दैनिक संस्करण निकालने के कारण 'सद्धर्म प्रचारक' की ख्याति में वृद्धि हो गई और मैं यह अनुभव करने लगा कि मैं दैनिक पत्र निकाल सकता हूँ।



: २ :

दिल्ली में

गुरुकुल विश्वविद्यालय से वेदालंकार की उपाधि प्राप्त करने के एक वर्ष पश्चात् मैं दिल्ली चला आया जहाँ लगभग एक वर्ष तक साप्ताहिक 'सद्धर्म प्रचारक' का संपादन करता रहा। 'सद्धर्म प्रचारक' का और मेरा जन्म का सम्बन्ध था। जिस वर्ष (१८८६ में) पिता जी ने जालंधर से उर्दू में 'सद्धर्म-प्रचारक' निकाला उसी वर्ष मेरा जन्म हुआ। प्रारम्भ से ही 'सद्धर्म प्रचारक' आर्य समाज का प्रमुख पत्र समझा जाने लगा था। कई वर्षों तक उर्दू में निकलता रहा। गुरुकुल में जाने के पश्चात् पिता जी ने उसे हिन्दी में कर दिया। पिता जी के गुरुकुल में स्थिर रूप से रहने के कारण जब जालंधर से पत्र का चलना कठिन प्रतीत होने लगा, तब प्रेस और पत्र दोनों ही हरिद्वार पहुँच गए। और उन्होंने प्रेस को गुरुकुल कांगड़ी को दान कर दिया। परन्तु 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र अपने ही पास रखा। पिता जी उसकी स्वाधीनता को सुरक्षित रखना चाहते थे। १९१६ में पिता जी संन्यास लेकर गुरुकुल से दिल्ली चले गए थे परन्तु मुझे पहले ही 'सद्धर्म प्रचारक' के संचालन का कार्य देकर दिल्ली भेज दिया था। १९१३ में हिन्दी का

साप्ताहिक 'सद्धर्म प्रचारक' मेरे सम्पादकत्व में दिल्ली से निकलने लगा।

यह मेरा गुरुकुल की सुरक्षित भूमि से बाहर की दुनिया में पहला अनुभव था। उससे पूर्व 'सद्धर्म प्रचारक' मुख्य रूप से धार्मिक पत्र समझा जाता था। पिताजी कभी कभी सामयिक राजनीति के विषयों पर स्वतन्त्र सम्मति दिया करते थे। परन्तु उसका भी उपसंहार प्रायः धार्मिक संदेश में होता था। छात्रावस्था से ही मेरा झुकाव राजनीति की ओर था। शिक्षा और दीक्षा धार्मिक हुई और आन्तरिक प्रवृत्ति राजनीति की ओर थी। फलतः क्रियात्मक जीवन के प्रारम्भ से ही मेरी कार्य प्रणाली में धर्म और राजनीति का मिश्रण हो गया था। मेरे सम्पादकत्व में दिल्ली से निकलने वाला 'सद्धर्म प्रचारक' उस मिश्रण का एक नमूना था। अग्रलेख प्रायः राजनीतिक विषयों पर रहता था और टिप्पणियों में सामाजिक विषयों की प्रधानता होती थी। मेरे लिए यह निश्चय करना कठिन है कि विषयों के इस मिश्रण का कारण मुख्य था अथवा मेरी लेख-शैली को पाठकों ने पसन्द किया, दिल्ली पहुँचने पर एक वर्ष के अन्दर ही पत्र की ग्राहक संख्या लगभग तिगुनी हो गई। जब पत्र दिल्ली से निकलने लगा तब उसकी ग्राहक संख्या १२०० के लगभग थी और वर्ष के अन्त में यह चार हजार को छू रही थी।

यद्यपि स्वयं अपनी लेख-शैली के सम्बन्ध में कुछ लिखना दु:साहस का कार्य है और शायद उसे अहम्मन्यता का चिह्न भी समझा जा सकता है परन्तु जब अपने अनुभव लिखने ही

लगा हूँ तो अनुभवों के एक अत्यन्त आवश्यक अंश को अछूता कैसे छोड़ दूँ ? पहले मैं अपनी भाषा की सबसे बड़ी त्रुटि बतलाऊँगा। हमारे शिक्षाकाल में गुरुकुल में हिन्दी का प्रयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में ही किया जाता था। उसके साहित्य तथा व्याकरण की पढ़ाई नहीं होती थी। मैंने हिन्दी का व्याकरण सर्वथा नहीं पढ़ा। इस कारण मेरी हिन्दी प्रारम्भ में मुख्य रूप से संस्कृत के साँचे में ढल गई। हमें संस्कृत का व्याकरण ही पढ़ाया जाता था। जब मैंने अपनी सब से प्रथम पुस्तक 'नैपोलियन बोनापार्ट' प्रकाशित की तब उसके समालोचकों ने प्रधान रूप में दो बातें लिखीं—पहली बात तो यह थी कि भाषा में हिन्दी-व्याकरण सम्बन्धी अनेक दोष हैं, और दूसरी यह थी कि भाषा जोरदार और स्पष्ट है। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ मेरी भाषा के स्पष्ट होने का मुख्य कारण यह है कि मैं लिखने के समय पाठकों के साथ अपना एकीभाव कर लेता हूँ। प्रत्येक वाक्य लिखते हुए यह ध्यान रखता हूँ कि मेरे शब्द पढ़ने वालों तक मेरे हृदय के भावों को सरल और स्पष्ट रीति से पहुँचा देंगे अथवा नहीं।

"वक्तुरेव हि तज्जाड्यम्
यत्र श्रोता न बुध्यते"

यदि सुनने या पढ़ने वाले ने न समझा तो वक्ता या लेखक की मूर्खता असंदिग्ध है। भाषा का अलंकार वहीं तक श्रोता-जनक या उपयोगी हो सकता है जहाँ तक वह लेखक के अभिप्राय में कठिनता उत्पन्न न करे। सदा यह ध्यान रखने

से मुझे अपने पाठकों के हृदय तक पहुँचने में थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त हुई है। उस सफलता ने मेरी हिन्दी-व्याकरण की अनभिज्ञता को थोड़ा बहुत ढक दिया है। इतने वर्षों तक लिखते-लिखते व्यावहारिक व्याकरण का कुछ बोध हो जाने पर भी मैं समझता हूँ कि हिन्दी-व्याकरण के विशेषज्ञ आज भी मेरी भाषा में से "भाषा की अनस्थिरता" के दृष्टान्त पा सकते हैं। इस न्यूनता के रहते भी प्रारम्भ से ही पाठकों के साथ मेरा जो एकीभाव स्थापित हुआ, वही वस्तुतः मेरी साहित्यिक निधि है।

इस प्रसंग से आई हुई चर्चा के लिए क्षमा माँग कर मैं 'सद्धर्म प्रचारक' की ओर मुड़ता हूँ। मेरे लिए दिल्ली शहर भी नया था और स्वतन्त्र रूप से पत्र-संपादन भी नया। चौबीस, पच्चीस वर्ष के पुराने धर्म विषयक पत्र पर राजनीति का पैबन्द लगाना और भी नई बात थी। 'प्रचारक' के बहुत से पुराने पाठकों को नया ढंग पसन्द नहीं आया। उन्होंने इस परिवर्तन को कलिकाल का ही एक स्पष्ट प्रमाण समझा परन्तु सामान्य रूप से लोगों ने 'प्रचारक' के नए रंग-ढंग को पसन्द किया। संभवतः उसके प्रति पुराने पाठकों की जो श्रद्धा थी उसकी घनता में कुछ न्यूनता आ गई। परन्तु उन्होंने भी पत्र को पढ़ना नहीं छोड़ा। नए पाठकों ने उसकी गतिविधि को पसन्द किया, जिससे ग्राहक संख्या में वृद्धि हो गई।

इस प्रकार सामान्य रूप से तो दिल्ली में पत्रकारिता का वह पहला वर्ष सफल हो रहा परन्तु एक बात मैंने प्रथम अनुभव कर ली कि पैबन्द लगाने से बूढ़ा वनस्पतियों को तो

उन्नति हो सकती है परन्तु समाचार पत्र जैसी संस्थाएँ पूरी तरह विकसित नहीं हो सकतीं। उनका एक परिमित और निश्चित लक्ष्य होना ही उपयुक्त है। वर्ष के अन्त में मैं इस परिणाम पर पहुँच गया कि यद्यपि नई पद्धति पर चलने से 'प्रचारक' की पाठक संख्या बढ़ गई है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका प्रभाव बढ़ गया है। प्रभाव का अभिप्राय है प्रेरणा। जब तक कोई पत्र पाठकों को प्रेरणा न दे सके, तब तक वह सार्थक नहीं हो सकता। और जिस पत्र का कोई निश्चित दृष्टिकोण तथा क्षेत्र नहीं है शायद उसे व्यापार का नाम दिया जा सके किन्तु उसे राष्ट्र का संचालक यन्त्र नहीं कहा जा सकता। फलतः मैं इस परिणाम पर पहुँच गया था कि 'सद्धर्म प्रचारक' को उसके पुराने धार्मिक रूप में सुरक्षित करके एक नया राजनीतिक पत्र निकाला जाए जिसमें अपने हृदय की भावना और लेखनी की कंडूति को सफल करने का पूरा अवसर मिल सके।

अभी नया पत्र निकालने की योजना गर्भावस्था में ही थी कि मेरे कार्यक्रम में आकस्मिक परिवर्तन आ गया। मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र जी, जो स्नातक बनने के पश्चात् गुरुकुल में उपाध्याय का कार्य करने लगे थे, गुरुकुल छोड़ कर दिल्ली आ गए और मुझे गुरुकुल जाना पड़ा।

साप्ताहिक 'विजय'

मैंने गुरुकुल जाने से पूर्व अपने अनुभव का परिणाम भाई जी को बतला दिया था। भाई जी किसी विचार को कार्य में परिणत करने में विलम्ब

: ३ :

दैनिक 'विजय'

भारत की राजनीतिक क्रान्ति के इतिहास में १९१८ के अन्त और १९१९ के प्रारम्भ के कुछ मास चिरस्मरणीय रहेंगे। १९१८ के दिसम्बर मास के अन्तिम सप्ताह में दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। उसमें प्रस्तावित 'रौलट बिलों' का विरोध करते हुए जो भाषण दिए गए उनमें यह धमकी स्पष्ट रूप से विद्यमान थी कि यदि सरकार ने सीधी तरह राष्ट्र की आवाज को सुन कर काले कानूनों को बनाने का विचार न छोड़ा तो आन्दोलन के वे साधन भी काम में लाए जाएँगे जो वैधानिक नहीं कहला सकते। मैं उन दिनों गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में आचार्य का काम कर रहा था। मैंने भी 'सद्धर्म प्रचारक' के प्रतिनिधि के तौर पर अधिवेशन में भाग लिया। जोशीले भाषणों से मेरी आधी सोई हुई राजनीतिक प्रवृत्ति उत्तेजित हो उठी और मैंने शिक्षक का कार्य छोड़ कर दिल्ली से दैनिक पत्र निकालने का निश्चय कर लिया।

दैनिक पत्र निकालने का निश्चय तो कर लिया परन्तु उसके लिए जिन साधनों की आवश्यकता है वे कहाँ से आएँगे इस पर क्षण भर के लिए भी विचार नहीं किया। यह मेरी युवावस्था का जोश था या अपरिमित आशावाद था, या

दोनों का सम्मिलित, आज इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। जेब या बैंक में एक भी पैसा नहीं था, उस कठिन कार्य में सहायता देने वाला व्यक्ति भी दृष्टि के सामने नहीं था और पत्र के छापने के लिए प्रेस की आवश्यकता होगी इस पर भी गम्भीरता से विचार नहीं किया था। 'बर्न बैस्टन रोड' नया बाजार (वर्तमान श्रद्धानन्द मार्ग) उन दिनों नया-नया बन रहा था। लाहौरी दरवाजे के पास के दो ब्लाक तैयार हो चुके थे। उसमें पहले ब्लाक के दूसरे मकान की एक मंजिल किराये पर ले कर और उस पर दैनिक 'विजय' का साइन-बोर्ड लगा कर मैंने यह समझा कि दैनिक पत्र के प्रकाशित होने का उद्योग-पर्व पूरा हो गया।

परन्तु जब दूसरे दिन चटाई डाल कर और 'डेस्क' पर कागज रख कर इति कर्तव्यताओं की सूची बनाने लगा तो प्रतीत हुआ कि अभी तो विसमिल्ला भी नहीं है, चित्र बनाने की सामग्री और चित्र का तो स्वप्न लेना भी सम्भव नहीं। ऐसे संकट के समय में ईश्वरीय सहायता मिलनी आरम्भ हुई। अच्छे उद्देश्य से किए गए साहसिक कार्य ईश्वर की सहायता से ही पूरे हुआ करते हैं। पहली सहायता एक साथी के रूप में मिली। साथी का नाम श्री तारिणी प्रसाद सिंह था। संक्षेप में उनका नाम था टी. पी. सिन्हा। टी. पी. सिन्हा अनेक विशेषताओं के कारण अद्भुत प्राणी थे। पहले उनकी वेश-भूषा का विवरण सुनिए। सिर पर लम्बे और घुंघराले बाल रखते थे, दिन में किसी समय एक बार बालों में कंघी कर लेते थे अन्यथा उनमें गर्द तिनके आदि अनेक पदार्थ

उलझे रहते थे। वेश बिहारियों का सा था, खद्दर का लम्बा कुर्त्ता, धोती और चप्पल! मूछें और दाढ़ी भी बढ़ी हुई थीं। रूप रंग मे जो कमी थी वह उनके वाक् चातुर्य से पूरी होती थी। अंग्रेजी धाराप्रवाह बोलते थे। उच्चारण सर्वथा अंग्रेजों का-सा था। 'थियोसोफी' में रहने के कारण अंग्रेजी बातचीत में असाधारण कुशलता प्राप्त थी। अपनी भाषा में तो कहना ही क्या। नए से नए आदमी को दो मिनट मे दोस्त बना लेते थे, दिन भर उसके साथ घूम कर चार पाँच उसके काम बना देना और पाँच सात अपने काम निकाल लेना साधारण बात थी। हम लोग उन्हें कहा करते थे "आप सच-मुच टी. पी. सिन्हा हैं।" क्योंकि वे घर से कभी नाश्ता लेकर नहीं चलते थे। जिस किसी के यहाँ जाते थे उसी के यहाँ चाय (टी) पीते थे। उनकी कार्य-प्रणाली का अनुमान मेरे कार्य से सम्बन्ध रखने वाले एक दृष्टान्त से लग सकेगा।

हम दोनों ने मिल कर निश्चय किया कि पत्र का नाम 'विजय' रखा जाय। मुझे यह विचार पसन्द आया, क्योंकि उसमे भाई हरिश्चन्द्र जी द्वारा चलाए हुए 'विजय' का पुन-र्जीवन होता था। सिन्हा साहब के मन में क्या था, यह मालूम नहीं। जब पत्र के लिए 'डिक्लरेशन' लेने का प्रश्न उत्पन्न हुआ, तब मैंने यह सन्देह प्रकट किया कि मेरी सरकारी डायरी अच्छी नहीं है; इस कारण सम्भव है मुझ जैसे राजद्रोही को डिक्लरेशन लेने में असुविधा हो। इस पर सिन्हा साहब ने मुझे आश्वासन दिया कि डिक्लरेशन की आप चिन्ता न करें। मैं कल शाम तक 'डिक्लरेशन' लाकर आपके हाथ में दे

दूँगा।" इस बढ़े हुए आत्म-विश्वास पर मुझे हँसी तो आई परन्तु मैं चुप हो गया। दूसरे दिन प्रातः काल बिना प्रातराश लिए वह प्रतिज्ञा-पूर्ति की मुहिम पर चल दिए। दिन-भर अनुपस्थित रहे। हम लोग यह सोचते रहे कि शाम को सिन्हा साहब कोरे हाथ लौटेंगे, क्योंकि 'डिक्लरेशन' मिलने में तो सामान्य रूप से कई सप्ताह व्यतीत हो जाते हैं। एक दिन में भला काम कैसे पूरा होगा? शाम के ६ बजे के लगभग हम लोग आश्चर्य में पड़ गए, जब तारिणी प्रसाद जी ने 'डिक्लरेशन' का स्वीकृत आज्ञा-पत्र मेरे हाथ में दे दिया।

हमारे पूछने पर सिन्हा साहब ने अपना दिन-भर का कार्य-विवरण सुनाया। घर से चल कर वह सरकार के एक ऊँचे अधिकारी के यहाँ पहुँचे जो बिहारी-सिन्हा थे और थियासोफिस्ट भी। वहाँ से उन्होंने चीफ़कमिश्नर के यहाँ टेलीफ़ोन करके मिलने का समय माँगा। समय मिल गया। चीफ़ कमिश्नर के यहाँ पहुँच कर सिन्हा साहब ने उसे बताया कि अंग्रेज़ों की और उनके मित्रों की युद्ध में जो जीत हुई है, उसके उपलक्ष में हम 'विजय' नाम का पत्र निकाल रहे हैं। मिसेज़ एनी बेसेन्ट और मिस्टर अरंडेल आदि के परिचय का निर्देश करते हुए चीफ़ कमिश्नर को विश्वास दिला दिया कि पत्र राजभक्त होगा। फिर क्या था, घंटे-भर में सारा जाप्ता पूरा कर दिया गया और पाँच बजे दफ़्तर बन्द होने से पहले 'डिक्लरेशन' की स्वीकृति तारिणी प्रसाद जी को मिल गई। दोपहर को चाय उन्होंने चीफ कमिश्नर के यहाँ और शाम की ए. डी. एम. के यहाँ पी। मुझे तो मानो मुँह माँगी मुराद मिली। मैं झटपट

के कामों में बहुत ही अनाड़ी हूँ। मेरे लिए जो सबसे बड़ी बाधा थी, वह सिन्हा साहब की सहायता से पूरी हो गई।

दूसरा प्रश्न यह उठा कि पत्र को प्रकाशित करने के लिए प्रेस कहाँ से आए। दिल्ली के एक पुराने सार्वजनिक गुजराती कार्यकर्ता मि. के. ए. देसाई नए बाजार में ही रहते थे। उनके पास एक छोटा-सा प्रेस था। प्रेस में एक 'हैण्ड-प्रेस' था और एक छोटी-सी ट्रेडल थी। डेढ़ दो फार्म कम्पोज करने लायक टाइप भी था। प्रेस को चलाने के लिए कुछ धन की आवश्यकता थी। उसकी एक हितैषी सभ्रांत महानुभाव से प्राप्ति हो गई। तब हमने विजय कम्पनी लिमिटेड का आयोजन कर लिया। कम्पनी के प्रारम्भिक डाइरेक्टर तीन थे—श्रीयुत देसाई, श्री सिन्हा और मैं।

तीन-चार सप्ताह के उद्योग से प्रेस और पत्र की योजना पूरी हो जाने पर 'विजय' के प्रकाशन की तिथि निश्चित की गई। अन्तिम परन्तु सबसे महत्वपूर्ण समस्या समाचार प्राप्त करने की थी। उन दिनों दिल्ली में 'एसोशिएटेड प्रेस' के मैनेजिंग डाइरेक्टर मि. राय थे। मैं उनसे मिला। राय महोदय वयोवृद्ध थे और मीठे स्वभाव के कारण लोकप्रिय थे। मैंने उनसे मिल कर यह निवेदन किया कि आप बहुत थोड़े रुपयों में 'विजय' के लिए ए. पी. आई. की संक्षिप्त से संक्षिप्त 'सर्विस' देना स्वीकार करें; उन्होंने उस समय मेरे कन्धे पर थपकी देते हुए जो शब्द कहे वह मैं सैकड़ों बार दोहरा चुका हूँ और कई स्थानों पर लिख भी चुका हूँ। उन्होंने अंग्रेजी में जो कुछ कहा उसका अभिप्राय यह था—"नौजवान, मैं तुम्हें सलाह देता हूँ

कि दिल्ली से अखबार मत निकालो। दिल्ली अखबारों के लिए बंजर भूमि है।" इस पर मैंने उत्तर दिया—"आप मुझे यह परीक्षण कर लेने दीजिए, शायद मेहनत से बंजर में भी पौदा पनप जाए।" तब राय महोदय ने गम्भीर होकर सलाह दी कि "यदि दैनिक पत्र निकालना ही है तो 'अर्जुन' मत लो। 'पायनियर' सुबह आ जाता है। उसमें से समाचार लेकर सायंकाल तक पत्र निकाल दिया करो। अभी व्यर्थ में खर्च मत बढ़ाओ।" यह सलाह मुझे पसन्द आ गई और 'पायनियर' के सहारे 'दैनिक विजय' का प्रकाशन आरम्भ कर दिया गया।

प्रारम्भ में 'विजय' के प्रबन्ध-विभाग के अध्यक्ष और सहायक और सब कुछ तारिणी प्रसाद जी थे। सम्पादकीय विभाग में एक मैं था और दूसरे गुरुकुल के स्नातक श्री देवराज जी, जो अब नहीं रहे। कुछ समय पीछे तो सम्पादकीय विभाग में कुछ अन्य महानुभाव भी आए, जिन में से प० भीमसेन जी विद्यालंकार और पं० मंगलदेव जी के नाम स्मरण हैं। पत्र का प्रचार बढ़ने पर स्नातक बलभद्र और उनके बड़े भाई स्नातक चन्द्रकेतु जी भी प्रबन्ध-विभाग की अध्यक्षता करते रहे। तब तक सिन्हा साहब अपने सैलानी स्वभाव के अनुसार विलायत जा चुके थे। वहाँ वह 'मानचेस्टर गार्डियन' के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे थे।

१९१९ के आरम्भ में दिल्ली में हिन्दी के दैनिक पत्र के लिए कैसा क्षेत्र था; इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि पहले अंक की ५०० प्रतियाँ छापी गई थीं जिनमें से दिल्ली में केवल ७० बिकीं। उनके सम्बन्ध में भी वेचने

वालों की यह रिपोर्ट थी कि अधिक संख्या कन्या पाठशालाओं में पढ़ने वाली कन्याओं ने खरीदी। बाबू लोग अंग्रेज़ी अखबार पढ़ते थे और हिन्दू दुकानदार उर्दू अखबार। अंग्रेज़ी अखबारों में से 'पायनियर' और 'लीडर' का अधिक प्रचार था और उर्दू अखबारों में शायद लखनऊ का कोई पत्र बड़ी संख्या में बिकता था। दिल्ली के 'बंजर भूमि' होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि उर्दू या हिन्दी में कोई स्थानीय पत्र नहीं निकलता था। अंग्रेज़ी में एक गोराशाही दैनिक पत्र प्रकाशित होता था, जिसमें बड़ी सफ़ाई से 'पायनियर' के बहुत से समाचार काट कर दे दिए जाते थे, विशेषता इतनी ही थी कि 'पायनियर' एक आने में बिकता था और वह पत्र दो पैसे में। उन दिनों छोटे और देसी भाषा के अखबारों का दो पैसे मूल्य रखने का ही रिवाज था।

केवल ७० कापियाँ बिकने पर कुछ हितैषियों को बड़ी चिन्ता हुई। निराश व्यक्तियों में से एक सिन्हा साहब भी थे। पत्र निकलने के थोड़े ही दिनों पश्चात् वह दिल्ली से चले गए थे। पत्र निकालने का श्रेय प्राप्त करना ही उन्होंने पर्याप्त समझा।

कुछ समय तक 'विजय' की गति बहुत मन्द रही। दिल्ली के आस-पास यू. पी. और राजपूताने के कुछ नगरों में एजेंसियाँ स्थापित हो गई थीं, जिनमें सब मिला कर चार-पाँच सौ पर्चे चले जाते थे। मित्र लोग तो मुझे नित्य ही समझाते थे कि यह काम चलने वाला नहीं है परन्तु मैं अपने आग्रह पर डटा हुआ था, तो भी मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिए

कि मेरे आशावाद की कुछ कलियाँ मुस्काने लग गई थीं कि भवितव्यता ने बीच में पड़ कर सारी परिस्थिति को ही बदल दिया, दिल्ली की वनस्थली में भी हरियाली लहलहाने लगी क्योंकि मार्च के अन्त में महात्मा गांधी का 'रालट बिलों' के विरोध में खड़ा किया हुआ सत्याग्रह आन्दोलन बरसाती बादलों की तरह उमड़-घुमड़ कर दिल्ली पर छा गया और शीघ्र ही वह भारत के सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त हो गया, परन्तु उसके प्रथम दर्शन दिल्ली में ही हुए। राज्य-क्रान्ति के उस उत्थान ने 'विजय' के लिए संजीवनी बूटी का काम दिया।

महात्मा जी ने मार्च में सत्याग्रह की घोषणा की। दिल्ली में जो सत्याग्रह-समिति स्थापित हुई, उसके दो मंत्री थे—एक डा० अब्दुल रहमान और दूसरा मैं। सत्याग्रह की उस घोषणा ने देश-भर में एकदम क्रान्ति का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। देशवासियों के हृदयों में एक नई चेतना, अग्नि की ज्वाला के समान फैल गई थी। जब महात्मा जी ने सत्याग्रह-संग्राम के पहले पग के तौर पर एक दिन की हड़ताल और उपवास का आदेश दिया तो यह सचमुच आश्चर्य-जनक बात हुई कि बीसियों साम्राज्यों के खण्डहरों से दब कर निश्चेष्ट पड़ी हुई दिल्ली-नगरी सबसे पहले उठ कर खड़ी हो गई। युग की मोह-निद्रा में सोए हुए दिल्ली के निवासियों ने देश-भर से पहले महात्मा जी के आदेश का पालन किया और ३० मार्च को हड़ताल कर दी। अन्य स्थानों पर वह जीवन-दायी मातमी दिन ६ अप्रैल को मनाया गया। ३० मार्च को दिल्ली में जो युद्ध हुआ, वह भारत की अहिंसात्मक राज्य-

क्रान्ति का आदिपर्व है। उस दिन वह सभी कुछ हुआ जो राज्य-क्रान्ति में होना चाहिए। जनता का उत्साह चरम सीमा तक पहुँच गया था, हड़ताल हुई, नरनारियों ने उपवास किया, भीड़ इकट्ठी हुई, पुलिस ने गोली चलाई, दिल्ली के चाँदनीचौक में निरपराध देशवासियों के रक्त की धारा बह निकली और उस धारा ने कम-से-कम कुछ समय के लिए हिन्दू मुसलमानों के भेदभाव को मिटा कर एकता का वातावरण पैदा कर दिया। यह संक्षिप्त वृत्तान्त मैंने यह समझाने के लिए लिखा है कि 'विजय' के और मेरे जीवन में एकदम सर्वांगीण परिवर्तन कैसे आ गया। मेरी युवावस्था थी, फ्रांस और इटली की राज्य-क्रान्तियों की हवा दिमाग़ में भरी हुई थी। उस पर सत्याग्रह की घोषणा चिनगारी की तरह पड़ी। यह तो कैसे कहूँ कि क्रान्ति के झंझावात ने मेरे संतुलन को बिगाड़ दिया। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि मैं सत्याग्रह-समिति का मन्त्री बनते ही तन्मय हो गया और मेरे साथ ही 'विजय' महाक्रान्ति का अग्रदूत बन गया।

उस समय पत्र के सम्पादन से सम्बन्ध रखने वाले अधिकतर कार्य मैं स्वयं ही करता था। शहर में घूम घूम कर समाचार इकट्ठे करता था, उन्हें लिखता था, उन पर सम्पादकीय टिप्पणियाँ अंकित करता था और आन्दोलन सम्बन्धी घोषणाएँ भी हिन्दी में स्वयं ही तैयार करता था। फलतः 'विजय' मार्च के अन्त में सत्याग्रह के आन्दोलन का मुख्य प्रचारक समझा जाने लगा।

अब तो सारा दृश्य ही बदल गया। दिल्ली से उर्दू या

हिन्दी में और कोई दैनिक पत्र प्रकाशित नहीं होता था। अंग्रेजी के गोराशाही पत्र को सरकार का पिट्ठू समझा जाता था। नगर में उसके पढ़ने वाले भी कुछ दर्जन ही होंगे। ३० मार्च के प्रातःकाल यह हालत थी कि सारे शहर में 'विजय' की पुकार हो रही थी। हमारे पास एक हैंड-प्रेस था, खरीदार हजारों थे। सुबह से पत्र छपना शुरू होता था, शाम तक छपता रहता था तो भी शहर की मांग पूरी नहीं होती थी। उत्तर-प्रदेश के आगरा, बरेली आदि और राजपूताने के अजमेर, जयपुर, जोधपुर आदि शहरों के एजेन्ट तार पर तार भेज रहे थे कि प्रतियाँ बढ़ाओ। परन्तु यहाँ स्थानीय मांग को पूरा करना ही असम्भव हो रहा था। कुछ दिन तक तो यह हालत रही कि दफ्तर के नीचे सड़क पर सैंकड़ों की भीड़ लगी रहती थी। जहाँ दस पर्चे छपे कि नौकर को देकर नीचे भेज दिया जाता था। पढ़ने वालों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। जो हिन्दी पढ़ना नहीं जानते थे, वे पर्चा खरीद कर दूसरों से पढ़वा लेते थे। 'विजय' का पर्चा दुकानदारों से लेकर ठेले वालों और भल्ली वालों तक के हाथों में दिखाई देता था।

जिन नगरों तथा ग्रामों में 'विजय' का प्रचार हो रहा था, उनकी राजनीतिक जागृति में पत्र का प्रमुख हाथ था। उस समय के 'विजय' के पाठक जानते हैं कि उन स्थानों में प्रारम्भिक राजनीतिक जागृति की धारा बहाने का श्रेय 'विजय' को ही था, जो दिल्ली में बहती हुई नदी से जल लेकर आस-पास के स्थानों की राजनीतिक दृष्टि से बंजर पड़ी हुई भूमियों को उपजाऊ बना रहा था।

को बुला कर प्रेस की जब्ती आदि की धमकियाँ दी गईं। सेंसर के कारण दैनिक पत्र का निकालना बेकार सा हो रहा था। प्रत्येक समाचार ४८ घंटे पिछड़ जाता था। इन परिस्थितियों से बाधित होकर निश्चय करना पड़ा कि दैनिक 'विजय' बन्द कर दिया जाए और साप्ताहिक रूप में निकलता रहे। होनहार पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने कई सप्ताह तक साप्ताहिक 'विजय' को चलाने का प्रयत्न किया। परन्तु परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल थीं कि साप्ताहिक भी बन्द करना पड़ा। इस प्रकार 'विजय' का यह दूसरा जीवन भी चिरस्थायी न हुआ। इस परीक्षण से मैंने दो शिक्षाएँ ग्रहण कीं—प्रथम यह कि पर्याप्त साधनों के बिना दैनिक पत्र देर तक नहीं चलाया जा सकता। दूसरी यह कि यदि लेखनी को निर्भयता और स्वाधीनता से चलाना हो तो भी उसकी नोक को थोड़ा-सा घिस लेना आवश्यक है। यह तो आशा न रखनी चाहिए कि घिसी हुई लेखनी से लिखे हुए लेखों को सरकार देर तक सहन करती जाएगी परन्तु इतना अवश्य है कि छोटी-सी सावधानता पत्रकार को कानूनी शिकंजे में फँसने से कुछ काल तक बचा सकती है।

पत्रकारिता के इस तीसरे परीक्षण को समाप्त करके मैं फिर अपने दूसरे शौक—शिक्षक-वृत्ति की ओर झुक गया और फिर गुरुकुल जाकर 'उपाध्याय' का कार्य करने लगा। मेरे नाम के साथ 'प्रोफ़ेसर' की जो उपाधि लगी हुई है—यह उन्हीं वर्षों का अवशेष है।

★

: ४ :

साप्ताहिक 'सत्यवादी'

कुछ समय तक गुरुकुल कांगड़ी में उपाध्याय का कार्य करने के अनन्तर मेरे मन में, फिर से खुले सार्वजनिक जीवन की भूख उभर आई। ऐसा अनुभव होने लगा कि केवल पढ़ाने में जीवन व्यतीत करने से सफलता के बैंक का बैलेंस शून्य ही रहेगा। यह भाव शायद बहुत ऊँचे दर्जे का तो नहीं था, परन्तु था बहुत तीव्र। इस कारण मुझे वह अपने साथ राष्ट्रीय महासभा के अहमदाबाद के अधिवेशन में बहा ले गया। जहाँ से मैंने गुरुकुल के तत्कालीन अधिकारियों को अपना त्यागपत्र भेज दिया।

कांग्रेस का वह अधिवेशन अपनी शान का निराला ही था। वह पहला अधिवेशन था जिसमें लगभग प्रत्येक कांग्रेसी खद्दर का वेष पहिन कर सम्मिलित हुआ। नगर में जिधर देखो मानो चांदी की चादर बिछी हुई थी। श्वेत टोपी, कुर्ता, और धोती पुरुषों का, और श्वेत साड़ी स्त्रियों का परिधान था। कांग्रेस के दिनों में अहमदाबाद स्परंग में साक्षात् अहिंसा का मूर्तिमान-सा दिखाई देता था। यही अधिवेशन था जिसमें महात्मा गांधी ने स्वयं अपने सिर पर सत्याग्रह के सर्वाधिकारी का

कटीला ताज रखा था। मैं अहमदाबाद से राष्ट्रीय आन्दोलन की उमंग से सराबोर होकर दिल्ली लौटा तो गुरुकुल न जा कर यहीं जम गया, और उसी पुरानी पत्र-कारिता की धुन में बेचैन हो कर अवसर की खोज करने लगा।

मैं इसी मानसिक छटपटाहट की दशा में था कि एक दिन भरतपुर के पं० जगन्नाथ अधिकारी ने मिलकर मेरे सम्मुख एक प्रस्ताव रखा। उन दिनों भरतपुर के शासक पर अंग्रेज सरकार का ग्रहण लगने की तैयारी थी। सरकार को यह सन्देह था कि महाराज अन्दर अन्दर से राष्ट्रीय कामों में सहायता देते रहते हैं। मामले की तहकीकात के लिए सरकार के कुछ अफसर भरतपुर में पहुँचे हुए थे। अधिकारी जी का नाम भी उन लोगों में था जिन पर यह आरोप था कि वे महाराज को सरकार विरोधी रास्ते पर ले जाते हैं। फलतः वे भरतपुर से दिल्ली आ गये, और इस चेष्टा में लग गये कि महाराज के पक्ष में प्रकाशन का कार्य करें। इस काम के लिए उन्हें कुछ आर्थिक सहायता भी मिली थी। उन्होंने तेलीवाड़े में एक अत्यन्त पुराना प्रेस खरीद लिया और 'भविष्य' नाम का हिन्दी दैनिक पत्र निकाल दिया। पत्र तो निकाल दिया, पर सम्पादन किस चिड़िया का नाम है, यह बोध न होने से बहुत चक्कर में पड़ गये। टाइप बहुत पुराना था, छपाई अच्छी नहीं आती थी, और ४ पृष्ठों के लेख प्रतिदिन पूरे नहीं होते थे। इस कारण दैनिक पत्र सप्ताह में प्रायः दो दिन प्रकाशित हो जाता था। जब अधिकारी जी का पांव इस दलदल में फंसा हुआ था, तब उन्हें मालूम हुआ कि मैं दिल्ली में हूँ, और हूँ भी खाली। पहले

उन्होंने अपने एक सन्देशहर को भेजा, जिनका नाम व्यंकटेश-रमण था। वह सज्जन अपने ढंग के अनूठे ही थे। बातचीत में बहुत प्रवीण, और व्यवहार में दुनियादार थे। वे प्रस्तावना बांध कर चले गये, और अगले दिन अधिकारी जी को साथ लेकर आगये। अधिकारी जी दुबले पतले, परन्तु भव्यमूर्ति ब्राह्मण थे। माथे पर सदा वैष्णवी टीका रखते थे, और बातचीत में अत्यन्त विनम्र और मीठे थे। उन्होंने मेरे सामने यह प्रस्ताव रखा कि मैं पत्र अपने हाथ में लेकर जैसा चाहूं सम्पादित करूं, नीति पर मेरा पूरा अधिकार होगा। प्रबन्धकर्ता रमण महोदय बताये गये और अधिकारी जी ने अपने जिम्मे यह काम लिया कि महाराज से पुष्कल आर्थिक सहायता प्राप्त करके प्रेस और पत्र को उन्नति को पराकाष्ठा तक पहुँचा देंगे। आर्थिक व्यवस्था यह की गई कि जब पत्र में कुछ लाभ होने लगेगा, तब उसे सब लोग बांट लिया करेंगे। मेरी उस समय भी आर्थिक दशा वैसी ही थी, जैसी १६१८ में गुरुकुल छोड़ने के समय थी। ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि मैं बिना कुछ आर्थिक दक्षिणा प्राप्त किये देर तक दैनिक पत्र का सम्पादन कर सकूं। फिर आर्थिक विषयों में मेरी उपेक्षावृत्ति, व्यंकटेशरमण की वाक् चातुरी, और अधिकारी जी की सज्जनता, तीनों ने मिलकर मुझ पर ऐसा जादू किया कि मैंने 'भविष्य' का प्रधान सम्पादक बनना स्वीकार कर लिया, और अगले दिन से 'भविष्य' कार्यालय में जाने लगा।

कार्यालय में जा कर देखा तो ढोल की पोल के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर न हुआ। वैसा वातावरण भी न था कि सम्पा-

दक कहलाने की हवस ही पूरी हो जाती। हैंड प्रेस शायद सन् ५७ से पहले का था, टाइप मुश्किल से एक फार्म का और वह भी घिसा हुआ, जो सज्जन फोरमैन थे, वही मशीनमैन भी थे। याद नहीं कि मैंने कितने दिनों तक रेत में से तेल निकालने का यत्न किया। परन्तु अन्त में अधिकारी जी को मान लेना पड़ा कि इस समय भरतपुर नरेश की ऐसी दशा नहीं है कि विशेष आर्थिक सहायता दे सकें। इस कारण चटाई लपेट देना ही अच्छा है। सो एक दिन ब्राह्ममुहूर्त में चटाई लपेट कर अधिकारी जी शायद मथुरा की ओर विदा हो गये। मैं उनसे दो तीन दिन पहले ही प्रधान सम्पादक की गद्दी छोड़ चुका था।

यदि आप पूछें कि मैंने इस 'भविष्य'—काण्ड से क्या सीखा तो मेरा उत्तर यह है कि साहसिक कार्य बड़ा हो या छोटा, उसे कभी दूसरे के बलबूते पर आरंभ न करो। अपने भरोसे पर, पार जाने के लिए गंगा में भी कूद पड़ो, परन्तु केवल दूसरे के सहारे का भरोसा रख कर घुटनों तक के पानी में भी पांव न रखो। आगे बढ़ कर छलांग लगाने वालों को यह शिक्षा गांठ बांध लेनी चाहिये।

साप्ताहिक 'सत्यवादी'

'भविष्य'-कांड के समाप्त होने पर मैं फिर खाली हो गया। उंगलियां लिखने को उतावली थीं, और चित्त अपने भावों को उगलना चाहता था, परन्तु साधनों का अभाव हो जाने से बेकार बैठ जाना पड़ा। उस लाचारी के अवकाश से लाभ उठाकर मैंने दो एक पुस्तकें लिखीं, परन्तु उनमें दिल

का बोझ हल्का न हुआ, तो अन्त में एक साप्ताहिक पत्र निकालने का मन्सूबा पक्का किया। दैवयोग से एक सहायक भी मिल गये। प्रसिद्ध दानवीर सेठ रघुमल लोहिया ने इस रूप में सहारा दे दिया कि अपनी दूकान पर हिसाब खुलवा दिया। आज्ञा दे दी कि एक वर्ष तक दूकान से आवश्यकतानुसार 'सत्यवादी' के लिये परिमित राशि ली जा सकती है।

वस्तुतः 'सत्यवादी' का यह दूसरा दौर था। 'सत्यवादी' का पहला दौर बहुत पहले, शायद १९०८-९ में, पं० रुद्रदत्त जी सम्पादकाचार्य के सम्पादकत्व में आरम्भ हुआ था। उस समय सद्धर्म प्रचारक प्रेस हरिद्वार में था। 'सत्यवादी' वहीं से निकलना आरम्भ हुआ, और वहीं समाप्त हो गया। जब मैंने दिल्ली से साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करने का विचार किया तब वही पुराना नाम क्यों चुना, इसका यही कारण समझना चाहिये कि मुझमें व्यतीत काल की ओर देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, अन्यथा परिवार के बच्चों के रोहिताश्व, जयन्त आदि तथा पत्रों के 'सत्यवादी' 'अर्जुन' आदि नाम न रखता। अस्तु, कारण कुछ ही हो, मैंने वही नाम रखा, और परिणाम भी लगभग वही हुआ। दिल्ली में 'सत्यवादी' का पहला अंक सन् १९२३ के जनवरी मास के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित हुआ। उसके चार मास पश्चात् ही दैनिक 'अर्जुन' निकल आया, तब कुछ महीनों तक 'सत्यवादी' 'अर्जुन' के साप्ताहिक के रूप में निकलता रहा, उसके पश्चात् वह 'अर्जुन' में ही विलीन हो गया।

सरदार भगतसिंह

'सत्यवादी' के दूसरे दौर का इतिहास सनसनीपूर्ण घटनाओं से सर्वथा शून्य रह जाता, यदि उसमें चुपचाप सरदार भगतसिंह का प्रवेश न हो जाता। मैं सायंकाल के समय पत्र के कार्यालय में बैठा हुआ था कि एक भव्य सिख नौजवान जिसके दाढ़ी के बाल अभी केवल दीखने लगे थे, आया और अपना अर्जुनसिंह नाम बतलाकर उसने पत्र के सम्पादकीय विभाग मे काम करने की इच्छा प्रकट की। नौजवान की आँखों में कुछ ऐसा आकर्षण था कि कुछ अधिक पूछताछ किये बिना मैंने उसे कार्य पर लगाने की स्वीकृति देते हुये पूछा कि क्या पहले किसी हिन्दी पत्र में काम भी किया है ? नौजवान ने उत्तर दिया कि "मैं कानपुर के 'प्रताप' में बहुत दिनों तक उपसम्पादक रहा हूँ।"

अर्जुनसिंह की हिन्दी तो बहुत अच्छी थी ही, उसके विचार और भी अधिक अच्छे और परिमार्जित थे। जब कभी हिन्दू मुस्लिम समस्या पर बात छिड़ती वह सदा साम्प्रदायिकता के विरुद्ध पक्ष लेता। अन्य सब विषयों पर भी उसके विचार उदार और निर्भीक होते थे।

मैं उस एक साधारण दीखने वाले असाधारण नौजवान से बहुत प्रभावित हुआ। उसकी कई असाधारण बातों में एक यह भी थी कि वह कभी अपने घर या परिवार के सम्बन्ध में चर्चा नहीं करता था। यदि कोई पूछताछ करता तो हँस कर टाल देता था। उसकी दूसरी विशेषता यह थी कि अन्य

सब चीजों में नियमित होता हुआ भी उपस्थितियों में बहुत अनियमित था। बिना पूर्व सूचना दिये एक दो दिन के लिये छुट्टी लगा जाना तो साधारण बात थी, कभी-कभी सप्ताह भर तक लापता रहता था। पहले तो उसका यह व्यवहार बुरा लगा, परन्तु कुछ दिनों के बाद सन्देहजनक और फिर रहस्यात्मक प्रतीत होने लगा। ऐसा भला आदमी किसी सामान्य कारण से बार-बार अनुपस्थित नहीं हो सकता यह विचार मन में आने लगा, और हल्की सी आशंका होने लगी कि हो न हो यह नौजवान क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध रखता है।

एक बार उसने लगभग सप्ताह भर का गोता लगाया। जब आया तो कुछ जल्दी में था। कहा कि घर से खबर आई है, पिताजी बहुत बीमार हैं, एक दिन के लिये जा रहा हूँ, न जाने कब वापिस आऊँ। लम्बी छुट्टी लेने और इतने दिनों तक सम्पादकीय विभाग में रखने के लिये धन्यवाद देने आया हूँ। दो तीन मिनट में यह विधि-विधान की बात करके अर्जुनसिंह ने सब से प्रेमपूर्वक विदाई ली और तांगे पर सवार हो गया और अपने पीछे हम लोगों के लिये यह समस्या छोड़ गया कि आखिर यह नौजवान था कौन ? दो दिन के पश्चात् समस्या की गाँठ स्वयं खुल गई। एक सब इंस्पेक्टर आठ दस सिपाहियों को साथ लेकर हमारे कार्यालय में पहुँचा। उसके पास भगतसिंह के नाम का वारंट था। हमने उत्तर दिया कि हमारे यहाँ भगतसिंह नाम का कोई आदमी नहीं है। एक अर्जुनसिंह नाम का नौजवान काम करता था, जो पिता की

बीमारी के कारण छुट्टी लेकर घर चला गया है। पुलिस ने कई रजिस्टरों को छानबीन की, कई प्रश्नों के उत्तर लिखकर खानापूरी भी की, परन्तु यह देखकर कि चिड़िया उड़ चुकी है, अपना-सा मुँह लेकर वापस चली गई। वारंट देखने से मालूम हुआ कि गिरफ्तारी का वारंट काकोरी की डकैती के सम्बन्ध में था।

एक इस घटना को छोड़कर 'सत्यवादी' के लघु जीवन का कोई रोमांस याद नहीं।



: ५ :

दैनिक 'अर्जुन'

मेरे दुःसाहस का पहला दौर एक वर्ष से कम समय में ही समाप्त हो गया था। दौर तो समाप्त हो गया, परन्तु दुःसाहस का अन्त नहीं हुआ। हाँ, यह अवश्य हुआ कि दुःसाहस को दूसरी बार शक्ति सञ्चय करने में ३ साल से अधिक समय लगे। 'सत्यवादी' १९२३ के अप्रैल मास में दैनिक 'अर्जुन' के रूप में प्रकाशित होने लगा। इस बार भी पत्र का कार्यालय श्रद्धानन्द बाजार में ही बना। 'अर्जुन' का पहला अंक २४ अप्रैल सन् २३ के दिन निकला।

१९२१ का दुःसाहस १९२३ के दुःसाहस से भी बड़ा था। १९१९ में 'विजय पब्लिशिंग कम्पनी' नाम की एक कम्पनी बना कर और कुछ मूलधन इकट्ठा करके अपने प्रेस में पत्र छापना आरम्भ किया गया था। और १९२३ में न कुछ मूलधन था, और न कोई साथी। केवल दुःसाहस की पूंजी के सहारे पर दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। पत्र लिखा जाता था श्रद्धानन्द बाजार में और छपता था लगभग ढाई मील की दूरी पर सद्धर्म प्रचारक प्रेस में, जो उन दिनों परेड के मैदान वाली सड़क पर था। उस समय पत्र सम्पादन में मेरे

एकमात्र सहायक अमृतसर के स्वर्गीय स्नातक देवराज जी थे। मेरे इस दुःसाहस को भी श्री स्वामी जी का आशीर्वाद प्राप्त था। पत्र निकाल तो दिया, परन्तु ऐसी असम्भव परिस्थितियों में वह चला कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि दैव अपनी इच्छा को पूरा करने की सामग्री स्वयं उपस्थित कर देता है। एक महीने के अनुभव ने ही सिद्ध कर दिया था कि अपने प्रेस के बिना दैनिक पत्र देर तक नहीं चल सकता, पत्र का अपना प्रेस होना ही चाहिये। हरिद्वार में एक प्रेस भी मिल गया लेकिन उसे पैसों बिना खरीदा कैसे जाये ? जेब तो बिल्कुल खाली थी। प्रेस वाला किश्तों पर दाम लेने को तैयार था। मेरे सामने प्रश्न यह था कि किश्तों की रकम अदा करने का वायदा किस भरोसे पर करूं। उस समय भगवान ने साथ दिया। सेठ जुगलकिशोर बिड़ला दिल्ली आये तो स्वामी जी ने उनसे 'अर्जुन' की चर्चा की। सेठ जी ने प्रेस खरीदने के लिये मूल्य की राशि देना स्वीकार कर लिया। हरिद्वार से प्रेस दिल्ली आ गया। सेठ जी की दी हुई राशि से उसका मूल्य चुका दिया गया और इस तरह 'अर्जुन' अर्जुन प्रेस में छपने लगा।

इस प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व इतना और लिख देना आवश्यक प्रतीत होता कि सेठ जी की दी हुई राशि मैंने श्री स्वामी जी द्वारा उस कोष में वापिस कर दी थी जिससे दलितोद्धार सभा, शुद्धि सभा आदि संस्थाओं को सहायता दी जाती थी। जब सेठ जी को स्वामी रामानन्द जी से यह मालूम हुआ कि मैंने रुपया वापिस कर दिया, तो उन्होंने

आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा था कि वह राशि तो मैंने 'अर्जुन' को दी थी, उसे वापिस करने की क्या आवश्यकता थी ? पाठकों के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठ सकता है कि मैंने कुछ ही दिनों में यह कई हजार रुपये कैसे वापिस दे दिये ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि मेरे ताया जी, पिता जी के बड़े भाई, के कोई संतान नहीं थी, वे गांव की जमीन और कोठी की वसीयत मेरे नाम कर गये थे। इस अवसर पर मैंने उसका सदुपयोग कर लिया। दोनों को बेच कर ऋण बेबाक कर दिया।

इस प्रकार लगभग एक वर्ष के अन्दर अर्जुन अपने पांव पर चलने योग्य हो गया। इस बार पत्र का प्रचार होने के लिये कोई विशेष चमत्कार नहीं हुआ ! चमत्कार की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। 'विजय' के विप्लवमय छोटे से जीवन ने जहाँ एक ओर दिल्ली के चारों ओर हिन्दी का सुन्दर क्षेत्र तैयार कर दिया था, वहाँ मेरे साथ पाठकों का वह निज का प्रेम सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था, जो अनेक विघ्न-बाधाओं के आने पर भी निरन्तर बढ़ता ही गया और जिसे मैं 'अर्जुन' का सबसे बड़ा मूलधन समझता हूँ। फलतः 'अर्जुन' को प्रारम्भ से ही पढ़ने वाले भी मिल गये और सहायक भी।

'अर्जुन' के जीवन को मैं 'विजय' की भांति तूफानी जीवन तो नहीं कह सकता, परन्तु उसे संघर्षमय जीवन तो कहना ही पड़ेगा। 'अर्जुन' जिस दिन निकला था, उस दिन उसे साधनहीनता जैसे विकट शत्रु से लड़ना पड़ रहा था। इस संघर्षमय जीवन में, इस श्री और साहस के परस्पर संग्राम में जिन

साथियों से मुझे सहायता मिलती रही है उनकी सूची बहुत लम्बी है। मुझे भय है कि बहुत प्रयत्नपूर्वक उस सूची को पूरा करूं तो भी वह अधूरी ही रहेगी। साथी आये और चले गये। कुछ अपनी परिस्थितियों से बाधित होकर चले गये और कुछ पत्रकार के जीवन से थक कर दूसरी दिशा की ओर मुड़ गये। पहले युग के साथियों में से सबसे पहला नाम पं० भीमसेन विद्यालंकार का है। वह 'अर्जुन' के पहले कानूनी सम्पादक बने। मैं पत्रकार, प्रिंटर और पब्लिशर था। मेरे लेख उस समय भी मेरे नाम के साथ ही प्रकाशित होते थे। पं० भीमसेन जी के लाहौर चले जाने पर जिन बन्धुओं की ओर से मुझे 'अर्जुन' चलाने में सहायता मिली उनमें से सबसे प्रमुख पं० रामगोपाल जी थे। वह १८, १६ वर्षों तक 'अर्जुन' के सम्पादन और प्रबन्ध के साथ इतनी पूरी तरह संबद्ध थे कि हिन्दी पत्रकार जगत में उनका और 'अर्जुन' का स्मरण एक साथ ही किया जाता था। दोनों वस्तुएं प्रायः अभिन्न समझी जाती थीं। 'अर्जुन' के और मेरे साथ उनके इतने गहरे संबंध रहे कि छोटी बच्ची ने उनका विशेष नाम ही 'साथी चाचा जी' रखा हुआ था। जो बन्धु साथी बन कर अन्यत्र चले गये, उनकी संख्या काफी बड़ी है। शहीद सरदार भगतसिंह ने मेरे साथ कुछ मास तक काम किया।

संपादकीय विभाग के सहायक

'अर्जुन' के उन सहायकों में से श्री वेदव्रत विद्यालंकार, श्री सेतराम बी० ए०, पं० कृष्णचन्द्र, विद्यालंकार, श्री

शिवकुमार जी, श्री मुकुट विहारी जी और जगन्नाथ जी, श्री अवनन्द विद्यालंकार, प० दीनदयालु शास्त्री, पं० विद्यानिधि जी सिद्धान्तालंकार, श्री, गणपतिचन्द्र केला, श्री रामगोविन्द मिश्र, श्री राजेश्वर विद्यालंकार, श्री युधिष्ठिर विद्यालंकार, स्वर्गीय श्री गोविन्दहृयारण जी, श्री पं०दीनानाथ विद्यालंकार, श्री सत्यकाम विद्यालंकार, श्री अनन्त वाचस्पति, श्री रामेश्वर विद्यालंकार आदि प्रायः सभी अब पत्रकारिता के क्षेत्र में यश प्राप्त कर चुके हैं।

प्रसिद्ध पत्रकार श्री सत्यदेव जी विद्यालंकार ने अपना पत्रकार जीवन साप्ताहिक 'विजय' से प्रारम्भ किया था। 'लोकमान्य' बम्बई और 'लोकमत' नागपुर के सम्पादक श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति ने पत्रकार कला की दीक्षा 'अर्जुन' कार्यालय में प्राप्त की थी।

प्रबन्ध विभाग के सहायक

'अर्जुन' के प्रबन्ध विभाग में जिन सज्जनों के कार्य की स्मृति मेरे मन पर विशेषरूप से अंकित है, उनमें से दो नाम प्रमुख हैं। पहला नाम 'अर्जुन' के बुनियादी मुलाजिम मुन्शी व्रजनारायण का है। मैं श्रद्धानन्द बाजार के एक मकान में बैठा 'अर्जुन' निकालने के मनसूबे बांध रहा था कि एक अधेड़ सज्जन मुझ से मिलने आये। दुबले-पतले मुन्शियाने ढंग के आदमी थे। रोजगार की तलाश में दिल्ली आये थे। न कोई जान-पहचान थी और न कोई सिफारिशी पत्र, फिर भी न जाने क्यों, मैंने एकदम निश्चय कर लिया कि मुन्शी जी को

अर्जुन का खजांची बनाया जाय। चुनाव बिना किसी विशेष कारण के हृदय की गवाही पर ही कर लिया तो भी धोखा नहीं मिला। लगभग १३ वर्षों तक मुन्शी ब्रजनारायण अर्जुन के खजांची रहे। संसार में कोई चीज अप्राप्य नहीं, ऐसे खजांची भी लोगों को मिलते ही होंगे, परन्तु मैं अपने अनुभव से तो यही कह सकता हूँ कि विश्वासपात्रता की दृष्टि से मुंशी जी के समकक्ष खजांची विरले ही होंगे। अधिक योग्य हो सकते हैं, पर अधिक विश्वासपात्र नहीं।

'अर्जुन' के सम्बद्ध में दूसरा जो व्यक्ति मेरे मन में सुखद भावना को उत्पन्न करता है, वह अर्जुन प्रेस का मशीनमैन उस्ताद काशीराम है। उस्ताद काशीराम का चरित्र तो पृथक चित्रण चाहता है उसे मैंने अलग चित्रित किया। उससे मालूम होगा ऐसे व्यक्ति केवल गल्पलेखकों के दिमाग की उपज ही नहीं होते, वह संसार की वास्तविक विभूतियां हैं।

'अर्जुन' के पहले दस वर्ष व्यतीत होने पर 'अर्जुन' की दशाब्दी मनायी गयी। इस अवसर पर 'अर्जुन' और उसके कार्यकर्ताओं को आशीर्वाद देने के लिए विश्व-कवि-सम्राट् डा० रवीन्द्रनाथ ने पधारने कृपा की थी। 'सैनिक' के सम्पादक प० श्री कृष्णदत्त पालीवाल तथा अन्य अनेक महानुभावों ने उस उत्सव में भाग लिया था।

'अर्जुन' से 'वीर अर्जुन'

'वीर अर्जुन' का इतिहास 'विजय' से शुरू होता है। जैसे

'विजय' कुछ समय पश्चात् 'अर्जुन' के रूप में प्रकट हुआ, उसी प्रकार 'अर्जुन' का भी नया नामकरण करना पड़ा। इन दोनों परिवर्तनों में कारण एक ही था। 'अर्जुन' के इतिहास से परिचित व्यक्ति जानते हैं कि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इस पत्र का भारत की नौकरशाही सरकार से संघर्ष निरन्तर जारी रहा। उस संघर्ष का कुछ थोड़ा-सा वृत्तान्त इसी लेख में आगे चल कर सुनाऊंगा। यहां केवल इतना निर्देश करना चाहता हूँ कि दोनों बार नाम परिवर्तन सरकार के पंजे को कुछ ढीला करने के लिए ही किया गया था। 'विजय' से दिल्ली की सरकार कितनी रुष्ट थी, इसका परिचय इस बात से मिल सकता है कि भारत के होम मेम्बर ने श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के राजनैतिक कार्य के विरुद्ध जो सरकारी शिकायत की थी, उसमें एक यह आरोप भी शामिल था कि उनका लड़का दिल्ली से एक क्रान्तिकारी अखबार निकाल रहा है। जब फिर से दैनिक पत्र प्रकाशित करने का निश्चय किया गया, तब यह विचार उठा कि यदि उसे 'विजय' नाम से निकाला जायेगा, तो सरकार बहुत भारी जमानत मांगेगी। इस कारण ऐसा नाम चुना गया जो साहित्यिक दृष्टि से 'विजय' का नामान्तर समझा जा सके।

प्रारम्भिक समस्या तो इस प्रकार हल हो गयी, परन्तु भवितव्यता को कौन रोक सकता है? कुछ ही वर्षों में 'अर्जुन' की सरकारी फाइल 'विजय' से भी बुरी बन गई। इस बार जमानत का धरातल बहुत ऊंचा हो गया था। दस हजार तक की जमानत मांगी जा चुकी थी। पांच हजार भी सरकार के खजाने में जमा थी, जब्तियों का सिलसिला जारी हो गया था। पहली

दो हजार की किस्त जब्त हो चुकी थी। उस समय पुराना हिसाब बन्द करके सरकार से नया हिसाब जारी करने के लिए 'अर्जुन' के नाम के साथ 'वीर' यह विशेषण जोड़ा गया। यह जमानत वापिस लेने की एक युक्ति निकाली गयी थी, जो दैव-योग से चल गई। नया डिक्लरेशन बिना जमानत के मिल गया। तब स्थानीय सरकार को सूचना दी गई कि 'अर्जुन' का प्रकाशन बन्द कर दिया गया है। जमानत वापिस कर दी जावे। इस पर स्थानीय सरकार बहुत झल्लाई, उसे अनुभव हुआ कि वह मात खा गई। बातें कानूनी थीं इस कारण इच्छा के विरुद्ध सरकार को जमानत वापिस करनी पड़ी।

सरकार का प्रकोप

यह तो मैं पहले ही समझ गया था कि 'अर्जुन' का नाम काली सूची में लिखा जा चुका है, परन्तु पत्र की फाइल इतनी मोटी और ऐसी कड़वी हो गई है, यह मुझे १६३३ में अकस्मात् मालूम हुआ, जब मैंने अपनी और 'अर्जुन' की पूरी सरकारी फाइल पर दृष्टि डाली। मैं उस सरकारी फाइल को कैसे देख सका, इसकी भी एक कहानी है, जो पूरी नहीं सुनाई जा सकती। सरकारी फाइल को देखना बड़ी जबर्दस्त तिकड़म का काम है और तिकड़म की कला में मैं बिल्कुल कोरा हूँ। इस विषय में मेरे परिचित लोग मुझे सदा ही दोष देते हैं। ऐसे तिकड़म विहीन व्यक्ति को एक गुप्त फाइल देखने का मौका मिल गया, यह भगवान् की ही कृपा थी। एक महान् तिकड़मी सज्जन ने मदद की और सच्चाई मेरे सामने आ गई। फाइल इतनी खराब थी कि मैं उसकी कल्पना भी नहीं

कर सकता था। उससे नौ-दस वर्ष पूर्व के समय में, शायद ही कोई ऐसा ऊंचा पुलिस अफसर दिल्ली में रहा हो, जिसने जाते हुए फाइल पर इस आशय का नोट न छोड़ा हो कि प्रो० इन्द्र और उनका अखबार दोनों बहुत खतरनाक हैं। इनका दबाव होना चाहिये। तदनुसार दबाव निरन्तर जारी रहे।

उन उपायों की शृंखला काफी लम्बी है। प्रारम्भ के दो वर्षों तक तो पत्र को अपनी चाल से चलने दिया गया, परन्तु १९२५ में सरकार की ओर से बाधाएं पड़ने लगीं। उस विक्षुब्ध वातावरण में कोई छेड़छाड़ नहीं हुई। इससे यह अनुमान लगाया जाने लगा था कि शायद दिल्ली की सरकार अब पत्रों के सम्बन्ध में उदार नीति से काम लेने लगी है कि एक दिन अकस्मात् दूसरा पहलू मेरे सामने आ गया।

एक अंग्रेज सीनियर सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस ने अपने दफ्तर में दिल्ली के सब सम्पादकों को बातचीत के लिये बुलाया। दिल्ली में अपने लगभग २५ वर्ष के लम्बे पत्रकार जीवन में वह एक ही अवसर था, जब दासुफ्तावस्था में किसी अफसर की बुलाई हुई सभा में गया अथवा उसके स्थान पर जाकर मिला। सीनियर साहब ने पत्रकारों के सामने समाचार पत्रों के कर्तव्यों के सम्बन्ध में गोरासाही उर्दू में एक लम्बा चौड़ा लेक्चर झाड़ा, और अन्त में कहा कि अगर आप लोग कुछ पूछना चाहें तो पूछें। अन्य सब तो चुपचाप बैठे रहे, पर मैं ऐसी सभाओं का अभ्यस्त न होने के कारण कुछ पूछ बैठा। सीनियर साहब उससे बहुत विचलित हो गये। उन्होंने सभा समाप्त करते हुए अन्य सबको विदा कर दिया परन्तु मुझे रुक जाने का आदेश

दिया। जब मैं अकेला रह गया, तब आपने सी० आई० डी० की एक फाइल मंगवा कर लाल लाल आंखों से मेरी ओर देखते हुए कहा—"आप सवाल करते हैं? आपकी फाइल बहुत खराब है। सरकार आप पर मुकदमा चला सकती है।"

मेरे लिये यह भाषा बिल्कुल नई थी। उस भाषा में 'पुलीस' की तेज बू आ रही थी। मेरे अन्दर उसकी जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, वह भी बहुत तेज थी, परन्तु मैंने उसे पूरी तरह दबाते हुए यथासंभव शान्त भाव से कहा, "क्या आप बतला सकते हैं कि 'अर्जुन' में कौन-सी झूठी खबर निकली है?" इसका उत्तर सीनियर साहब ने यह दिया कि सच झूठ का सवाल नहीं, सरकार सनसनीवाली खबरें नहीं चाहती। इसका जो उत्तर मैंने दिया, उसका आशय यह था कि पत्र सम्पादक का काम ठीक खबरें प्रकाशित करना है। इसमें वह किसी का दबाव नहीं मानता। मैंने यह भी कहा कि मालूम होता है कि आपको कभी किसी पत्रकार से वास्ता नहीं पड़ा अन्यथा आप इस प्रकार की अशिष्टताभरी धमकी न देते।

मेरे इस कथन से सीनियर साहब का पारा बहुत ऊंचा चला गया। उनका शरीर क्रोध से कांपने लगा। मैं उनकी इस दशा को एक निरीक्षक की दृष्टि से शान्त भाव से देख रहा था और उनकी ओर से अगले कदम की प्रतीक्षा कर रहा था कि इतने में सी० आई० डी० के अनुभवी डी० एस० पी० दोस्त इफ्तरामुलहक़ साहब दफ्तर में तेजी से आये और साहब के क्रोध पर ठंडा पानी डालते हुए मुझे यह समझाया कि साहब का कोई बुरा मतलब नहीं है और साहब को यह सुझाया कि प्रो०

साहब का भी कोई बुरा मतलब नहीं है। इस प्रकार वह मुलाकात तो बगैर किसी दुर्घटना के शान्त हो गई परन्तु सीनियर साहब ने फाइल में एक बहुत जोरदार नोट लिखकर दिल्ली के हाकिमों की भावी सन्ततियों को 'अर्जुन' का दिमाग सीधा करते रहने की वसीयत कर दी। मुझ पर उस मुलाकात का यह असर हुआ कि मैं उस दिन के पश्चात् सरकार द्वारा बुलाई गई पत्रकारों की किसी सभा में सम्मिलित नहीं हुआ।

इस मुलाकात के पश्चात् सी० आई० डी० के दफ्तर में 'अर्जुन' के विरुद्ध मामले गढ़ने का कारखाना सा खुल गया। निजी तौर पर मुझे कई चेतावनियां दी गईं। मेरे मित्रों ने मुझे सुझाया कि डिप्टी कमिश्नर से मिल कर मामले को रफा दफा करा दो, पर मेरी अन्तरात्मा ने इसे स्वीकार नहीं किया। एक बार मेरे तीन अत्यन्त हितैषी मित्रों ने मुझसे बिना पूछे ही डिप्टी कमिश्नर से मुलाकात का समय नियत कर लिया और मेरे पास आकर सूचना दी। जब मैंने इन्कार किया, तो मेरे बुजुर्ग मित्र मुझे अपने साथ कुदसिया बाग तक ले गये। डिप्टी कमिश्नर का बंगला उस बाग के पास ही था। मुझे उन मित्रों ने लगभग घण्टा भर बाग में घुमा कर समझाया, परन्तु एक अंग्रेज अफसर के बंगले पर हाजिरी देने की बात के विरुद्ध मेरी अन्तरात्मा का विद्रोह शान्त नहीं हुआ। इसी सलाह-मशवरे में मुलाकात का समय समाप्त हो गया और मेरे मित्र मुझे घर पर छोड़ कर दुखित हृदयों से चले गये।

इसके पश्चात् पत्र के विरुद्ध दमन का दौर दौरा विधिपूर्वक आरम्भ हो गया।

आन्दोलन की विशालता और तीव्रता को देख कर सरकार घबरा गई। महात्मा जी की दांडी यात्रा ने तो सरकार के पांव ही उखाड़ दिये। घबरा कर उसने बेहताशा चारों ओर पांव मारने शुरू किये। वह अखबारों पर भी खूब बरसी। दिल्ली की सरकार ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'अर्जुन' 'तेज' आदि राष्ट्रीय पत्रों से दस-दस हजार की जमानतें माग ली। पत्रों ने जमानतें न देकर प्रतिवाद के रूप में प्रकाशन बन्द कर दिया। मई से अगस्त तक दिल्ली के समाचार जगत् में पूर्ण अंधकार-सा रहा। जनता की समाचार-पिपासा घण्टा-घर पर चिपकाये हुए बुलेटिनों से पूरी की जाती थी। अगस्त में सरकार का दिमाग कुछ ठण्डा हुआ। जमानत की मात्रा घटा दी गई। चार हजार रुपये की जमानत जमा कर छः अगस्त से 'अर्जुन' फिर प्रकाशित होने लगा।

जमानतों का तांता

जमानतों का यह सिलसिला किसी न किसी रूप में चलता ही रहा। कहावत मशहूर है—'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे'—नौकरशाही सरकार पर जब कभी राजनैतिक हलचल के रूप में कोई नई मुसीबत आती थी तब यह खिसियानी होकर अखबारों को नोचने लगती थी। १९३२ में फिर सत्याग्रह का बिगुल बजाया गया। इस प्रसंग में दिल्ली के घण्टाघर के चौक में सरकारी आज्ञा की अवहेलना करके कांग्रेस का वृहद् अधिवेशन किया गया। सरकार ने इसका गुस्सा अपनी आदत के अनुसार अखबारों पर निकला। 'अर्जुन' से भी दो हजार की जमानत ली गई।

१९३५ में क्वेटे में भूकम्प हुआ, उसके सम्बन्ध में देश में तरह तरह की चर्चायें उठीं, जिनसे सरकार विक्षुब्ध हो गई। पं० अमरनाथ विद्यालंकार के कुछ लेख 'अर्जुन' में भी प्रकाशित हुए थे, उससे असन्तुष्ट होकर सरकार ने पांच हजार की जमानत मांग ली जो दी गई।

कुछ समय पीछे सरकारी कोप का पारा कुछ और ऊपर चला गया। जिसके कारण पांच हजार में से दो हजार जब्त कर लिये गये।

१९४२ में देश में फिर राज्यक्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी। सरकार उससे कांप गई और अपने स्वभाव के अनुसार अग-धारों पर बरस पड़ी। सैन्सरशिप की रस्सी तो गले में डाली ही गई, 'अर्जुन' से पन्द्रह-पन्द्रह सौ की दो जमानतें भी मांगी गईं। इनमें से एक जमानत साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' से मांगी गई थी और दूसरी अर्जुन प्रेस से।



भने थे। फिर मैंने वह दिन भी देखे जब उन्होंने मोटर भेज मुझे अपने यहाँ बुलाया और यह प्रस्ताव रखा कि मैं 'अर्जुन' को उनके कारोबार का हिस्सा बना दूं। जब उसमें सफलता न हुई तो मैंने उन्हें कमर कस कर पत्रकारिता के बाजार में दूकानदार बनते भी देख लिया। ३० वर्षों के उस अनुभव को विस्तार से एक लेख में लिखना सम्भव नहीं। अतः मैं कुछेक स्वानुभूत दृष्टान्तों से उस क्रान्तिकारी परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालूंगा।

'अर्जुन' न पूंजी के विरुद्ध रहा और न पूंजीपतियों के विरुद्ध था। जिन प्रेमियों और भक्तों पर 'अर्जुन' को उचित अभिमान या उनमें से अनेक बहुत बड़े पूंजीपति थे। यद्यपि उनसे 'अर्जुन' कभी भीख मांगने नहीं गया तो भी उनकी सद्भावना को वह अपनी बहुत बड़ी सम्पत्ति समझता रहा।

पूंजीपतियों से संघर्ष का दूसरा कारण यह हो सकता था कि 'अर्जुन' उन लोगों की निन्दा करके ब्लैकमेल या ठगी द्वारा पैसा ऐंठने का प्रयत्न करता। 'अर्जुन' के विरोधी भी स्वीकार करेंगे कि 'अर्जुन' ने कभी ऐसा नहीं किया। शायद यह कहना ठीक होगा कि 'अर्जुन' के संचालकों में ऐसा करने की प्रवृत्ति और अक्ल हो नहीं थी।

तब प्रश्न होता है कि पूंजीपतियों से 'अर्जुन' का संघर्ष हुआ ही क्यों? इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित घटनाओं से मिलेगा। इन घटनाओं में मैंने जानबूझ कर व्यक्तियों के नाम छोड़ दिये हैं, क्योंकि प्रायः सभी सम्बद्ध व्यक्ति जीवित हैं।

पहली घटना

पहली घटना लगभग २३ वर्ष पुरानी है। उन दिनों फतेहपुरी का एक बहुत बड़ा होटल एक ऐसे सज्जन के हाथ में था, जो रेलवे का भी ठेकेदार था। मेरे पास विश्वस्त सूत्र से समाचार पहुँचा कि वह होटल व्यभिचार का बहुत बड़ा अड्डा बना हुआ है। मैंने निजी तौर पर होटल के मालिक को चेतावनी भेजी परन्तु उसका कुछ फल नहीं हुआ। तब मैंने पत्रकार की हैसियत से अपना यही कर्तव्य समझा कि होटल के मालिक को समाचार पत्र द्वारा चेतावनी दी जाय। अपनी रिपोर्ट और उस पर दी गई सम्पादकीय टिप्पणी को पढ़ कर होटल के मालिक तिलमिला गये। उन्होंने मुझे कहला कर भेजा कि तुम्हारा जवाब तुम्हारे ही तरीके पर दिया जायगा और कुछ ही दिनों में एक उर्दू के दैनिक पत्र का प्रादुर्भाव हो गया। उस पत्र का यह उद्देश्य घोषित किया गया कि सनातन धर्म की रक्षा की जायगी और दिल्ली में आर्यसमाज के बढ़ते हुए असर को रोका जायगा। पत्र के आक्रमणों का मुख्य लक्ष्य 'अर्जुन' और उसके सञ्चालकों को कोसना था। ऐसे शुभ सङ्कल्प से निकाला गया पत्र बहुत दिनों तक कैसे चल सकता था? उसे केवल इतनी सफलता हुई कि दो एक धर्मशालाओं में कुछ सज्जनों को इकट्ठा करके सनातन धर्म के नाम पर 'अर्जुन' के बहिष्कार के प्रस्ताव स्वीकार कराये गये। जब मालिक साहब ने देखा कि ऐसा करने से 'अर्जुन' की ग्राहक संख्या घटने की जगह बढ़ने लगी, तो ६-१० हजार रुपया फूंक कर पत्र बन्द कर दिया। कुछ वर्षों के पश्चात् वह होटल दूसरे हाथों बिक गया और रेलवे

के स्टालों का ठेका भी बदल गया । यह एक पूंजीपति से 'अर्जुन' की पहली टक्कर थी ।

दूसरी घटना

अब दूसरी टक्कर का वृत्तान्त सुनिये । एक स्थानीय मिल के कुछ मजदूर अपनी शिकायतें लेकर 'अर्जुन' के दफ्तर में आये । दफ्तर में उस समय एक सहायक सम्पादक बैठे थे। चिट्ठी की भाषा कुछ सख्त थी। परन्तु शिकायतें साधारण सीधी सादी भाषा में लिखी गई थीं। सहायक सम्पादक ने वह शिकायती चिट्ठी पत्र में दे दी। दूसरे दिन जब प्रातःकाल 'अर्जुन' का पर्चा मिल के सेक्रेटरी के सामने पहुँचा तो वे बहुत रुष्ट हुए । यूं तो सेक्रेटरी बहुत सज्जन और असाधारण रूप से उदार व्यक्ति थे। इस घटना के पीछे और शायद इसी घटना के कारण उनके साथ मेरे सम्बन्ध बहुत अच्छे और गहरे हो गये । दुःख है कि वह अब संसार में नहीं हैं । उस समय वह दिल्ली में नये थे, मेरे स्वभाव से अपरिचित थे । शायद इसी कारण निम्नलिखित घटना घटित हुई। सेक्रेटरी की ओर से मुझे टेलीफोन पर बुला कर कहा गया कि 'अर्जुन' में मजदूरों की ओर से जो चिट्ठी छपी है, वह सर्वथा मिथ्या है । मिल के मजदूरों की ऐसी कोई शिकायत नहीं है । साथ ही यह भी कहा गया कि 'अर्जुन' में प्रकाशित पत्र में मिल के स्वामी पर भी आक्षेप किया गया है, यद्यपि आपसे उनके सम्बन्ध अच्छे हैं। मैंने उत्तर दिया कि सम्भव है सेक्रेटरी साहब का कहना ठीक हो, सेक्रेटरी साहब अपना वक्तव्य लिख कर भेज दें, वह छाप दिया जायगा । मिल के स्वामी से अपने सम्बन्ध के बारे में मैंने उत्तर दिया कि मेरा

उनका सम्बन्ध सार्वजनिक है। यह मेरी प्रेरणा पर कभी-कभी सार्वजनिक कामों में सहायता दे देते हैं। भविष्य में ऐसा करें या नहीं यह उनके सोचने की बात है, मेरे सोचने की नहीं।

लगभग घंटे भर के परामर्श के पश्चात् सेक्रेटरी ने फिर टेलीफोन करवाया। मुझ से कहा गया कि आपको स्वयं उस चिट्ठी का प्रतिवाद करना होगा अन्यथा परिणाम अच्छा न होगा। मैंने उत्तर दिया कि अगर मुझे यह बता दिया जाये कि क्या परिणाम हो सकता है, तो मैं विचार कर निश्चय करूंगा कि क्या किया जावे।

मिल के दफ्तर में फिर कुछ देर तक परामर्श चलता रहा। इस समय रात के ६ बज चुके थे। टेलीफोन की घंटी बजी। मैंने कान लगाये तो सेक्रेटरी साहब का निम्नलिखित आदेश सुनाई दिया, 'यदि आप उस चिट्ठी का प्रतिवाद स्वयं नहीं करेंगे तो 'अर्जुन' पर मिल मालिक की ओर से ५० हजार रुपये का मानहानि का दावा किया जायगा।' 'जरा ठहरिये मैं अभी उत्तर देता हूँ।' यह कहकर मैंने टेलीफोन रख दिया और एक समाचार लिखा। उसका शीर्षक था 'सेठ की ओर से 'अर्जुन' पर मानहानि का दावा।'

इस शीर्षक के नीचे सेक्रेटरी से अपनी बातचीत का पूरा विवरण देकर मैंने फिर टेलीफोन उठाया और सेक्रेटरी साहब को यह समाचार सुना कर पूछा कि क्या मैंने, परस्पर बातचीत की ठीक रिपोर्ट दी है? मैं यह समाचार कल प्रातःकाल के 'अर्जुन' में प्रकाशित कर रहा हूँ।

अब तो सेक्रेटरी साहब बहुत घबराये। वे अनुनय करने

लगे कि मेरे साथ मामला सुलझाने में शायद कुछ भूल हो गई है। मिल के एक अधिकारी को उसी समय 'अर्जुन' का कटिंग देकर दिल्ली के उस समय के सबसे बड़े वकील के पास भेजा गया। वह बेला रोड पर रहते थे। जब मिल का आदमी उनके पास पहुँचा तो वह सो चुके थे। उन्हें उठा कर सम्मति ली गई तो उन्होंने उत्तर दिया कि मामला नहीं चल सकता। यदि चल भी गया तो 'अर्जुन' की अपेक्षा मिल को अधिक हानि पहुँचेगी। फलतः रात के ११ बजे मुझे सेक्रेटरी ने स्वयं फोन पर बुला कर कुछ हँस कर कहा 'क्षमा कीजिये', पंडितजी आपको बहुत कष्ट दिया, आप तो अपने आदमी हैं। मैं कल स्वयं उस चिट्ठी का प्रतिवाद भेज दूंगा, आप छाप दीजिएगा।'

अगले दिन वह सज्जन स्वयं ही मेरे पास आये। प्रलोभन होता है कि उनका नाम लिख दूं क्योंकि मैंने उन्हें बहुत ही भले, उदार और समझदार व्यक्ति पाया। परन्तु जब और सब नाम नहीं दिये गये तो उन्हीं का नाम देना उचित नहीं मालूम देता।

कुछ दिन पीछे मिल के मैनेजर ने मुझे बतलाया कि रात को सलाह लेने के अपराध में वकील साहब ने मिल पर ६० रु० का जुर्माना फीस के रूप में किया।

यह मामला तो यूं समाप्त हुआ, परन्तु उसका सुदूरवर्ती परिणाम यह हुआ कि कुछ ही महीनों में दिल्ली में एक साधन-सम्पन्न प्रभावशाली हिन्दी दैनिक पत्र का प्रादुर्भाव हो गया। यह पत्र उसी मिल के स्वामियों से संबद्ध था। मैं निश्चय से नहीं कह सकता कि मिल के स्वामियों को ऊपर लिखी हुई

घटना पूरी तरह मालूम भी थी या नहीं। परन्तु उस घटना और हिन्दी पत्र के प्रकाशन का समय एक दूसरे के इतना समीप था कि उनमें सम्बन्ध होना असम्भव नहीं।

यहाँ यह स्वीकार करने में मुझे कुछ भी संकोच नहीं कि इस नये पत्र की प्रतिद्वन्द्विता ने 'अर्जुन' के रास्ते में असाधारण कठिनाइयाँ पैदा कर दी थीं। उन दिनों हिन्दी दैनिकों की एक प्रति का मूल्य दो पैसा था। 'अर्जुन' दो पैसे में छः पृष्ठ देता था, नये पत्र ने आठ पृष्ठ देने शुरू किये। लाचार होकर 'अर्जुन' को भी आठ पृष्ठों का पत्र निकालना पड़ा। तब नये दैनिक ने पृष्ठ संख्या बढ़ा कर १० कर दी। उसकी पीठ पर करोड़ों की थैलियाँ थीं, जीवन रक्षा के लिए 'अर्जुन' को भी पृष्ठ संख्या बढ़ा देनी पड़ी। इस गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा का फल यह हुआ कि 'अर्जुन' पर कागजों का ४० हजार रुपयों से अधिक ऋण हो गया। वह 'अर्जुन' के जीवन का अधिक से अधिक विकट समय था।

उस संकट में से 'अर्जुन' कैसे निकला? इस प्रश्न का पूरा उत्तर मैं नहीं दे सकता। 'अर्जुन' के प्रेमी यह जान कर सन्तुष्ट होंगे कि कागजों का यह ऋण पूरे सूद के साथ बिल्कुल बेबाक कर दिया गया। हम लोगों ने केवल धैर्य और परिश्रम से काम किया। किश्ती को पार लगाने वाला भगवान ही था।

तीसरी घटना

इसी प्रसंग में दो और घटनाएं भी सुनाने योग्य हैं। दिल्ली की एक और बड़ी मिल में हड़ताल हुई। अन्य समाचारों की भांति उस हड़ताल के समाचार भी 'अर्जुन' में प्रका-

श्री श्रद्धानन्द पब्लिकेशन लि० की योजना

मैंने प्रारम्भ से ही 'अर्जुन', प्रेस तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले पत्रों को अपनी सम्पत्ति नहीं समझा। वे मेरे लिये सार्वजनिक सेवा का साधन और अतएव सार्वजनिक वस्तु रहे। जब तक उनकी आर्थिक दशा निर्बल रही, मैंने उन्हें अपने पास रखा, परन्तु जब ग्राहक संख्या और विज्ञापनों की दृष्टि से वह अपने पाँव पर खड़ा हो गया, तब मैंने उनके संचालन के लिये श्री श्रद्धानन्द पब्लिकेशन्स लिमिटेड नाम की कम्पनी सगठित करके प्रेस, पत्र तथा अपनी पुस्तकों का स्टाक सब कुछ उसे सौंप दिया। इस परिवर्तन का परिणाम बहुत अच्छा हुआ। प्रेस और पत्र दोनों की पर्याप्त उन्नति हुई, इतनी उन्नति हुई कि उसे देख बहुत से महानुभावों और पूंजीपतियों के मुंह में पानी आ गया। उस कम्पनी के प्रथम डायरेक्टर निम्नलिखित थे—

१. ला० सांवलदास लोहिया,	२. पं० रामगोपाल लोहिया,
३. गोस्वामी गणेशदत्त जी,	४. ला० बालकिशनदास,
५. सेठ रामगोपाल गाड़ोदिया,	६. श्री धर्मपाल विद्यालंकार,
७. श्री मिट्ठनलाल भार्गव,	८. इन्द्र विद्यावाचस्पति,
	मैनेजिंग डायरेक्टर।

मुझे कृतज्ञता पूर्वक यह स्वीकार करते हर्ष होता है कि जबतक मेरा संबंध रहा, तब तक इन सब साथियों ने हर कार्य में सहयोग दिया और कभी स्वार्थमूलक खींचातानी से काम नहीं लिया। डायरेक्टर बीच-बीच में बदलते भी रहे, परन्तु सबकी भावना सुन्दर सहयोग की रही।

स्वर्ण जयन्ती

मेरा यह राष्ट्रीय युग का पत्रकारिता का जीवन स्वर्ण-जयन्ती के उत्सव के साथ समाप्त समझना चाहिये। यह उत्सव १९४७ के जनवरी मास मे सम्पन्न हुआ। उस अवसर पर पत्र को जो बधाइयां और आशीर्वाद प्राप्त हुए उनमें से कुछ यहा दे रहा हूँ। ये अन्य बीसियों बधाइयों के उपलक्षण हैं।

श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद जी

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री इन्द्र जी द्वारा संचालित 'वीर अर्जुन' का रजत जयन्ती अंक प्रकाशित हो रहा है। 'वीर अर्जुन' की सेवायें विदित हैं। मैं आशा करता हूँ कि इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती रहेगी।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

कृपा पत्र मिला। 'वीर अर्जुन' के लिये मेरी हार्दिक शुभ कामनायें स्वीकार कीजिए। मैं इन दिनों अस्वस्थ हूँ। नही तो इस अवसर पर कुछ और लिखता। प्रभु करे 'वीर अर्जुन' अपने बड़े छोटे सहयोगियों में वही प्यार और श्रद्धा प्राप्त करे, जो पाण्डवों के बीच अर्जुन को प्राप्त है।

श्री राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

'वीर अर्जुन' की रजतजयन्ती के अवसर पर उसे मेरी हार्दिक बधाई। पिछले पच्चीस वर्षों में दिल्ली के प्रभावशाली क्षेत्र में उसने, मेरे प्यारे भाई श्री इन्द्र जी की शक्ति पाकर निर्भीकता से देश की उपासना की है और हिन्दी का मान रखा है। यह हिन्दी भाषियों के प्रेम और सम्मान का अधिकारी है।

यह चिरंजीवी हो और उसके करों में हिन्दी प्रेम का गाण्डीव सदा दृढ़ता से राष्ट्रीयता की रक्षा करे, इस शुभ अवसर पर मेरी स्वाभाविक कामना है।

श्री घनश्यामदास बिड़ला

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'वीर अर्जुन' अपने जीवन के २५ वर्ष पूरे कर नये वर्ष में प्रवेश कर रहा है। इसके लिए हम आपको बधाई देते हैं और मंगलमय भगवान से प्रार्थना करते हैं कि जिन उद्देश्यों के लिए इसकी स्थापना स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के द्वारा हुई थी, उन उद्देश्यों की पूर्ति में यह सफल मनोरथ हो। हम आपके रजतजयन्ती उत्सव की सफलता चाहते हैं।

श्री बलदेव सहाय जी

रजतजयन्ती के शुभ अवसर पर 'वीर अर्जुन' पत्र को और उसके संस्थापक श्री इन्द्र जी को मैं अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

भारतवर्ष में अनेक समाचार पत्रों का जीवन बालपन में ही समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में किसी समाचार पत्र के लिए २५ वर्ष की प्रौढ़ता प्राप्त करना ही बड़े गौरव की बात है, विशेषकर किसी दैनिक पत्र के लिये; जिसे कोई महत्त्व के समाचार हों अथवा न हों, प्रतिदिन अपना कलेवर सुसज्जित करके जनता की सेवा में निरन्तर उपस्थित होना पड़ता है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि 'वीर अर्जुन' और अधिक वीरता के साथ राष्ट्र की सेवा सदा करता रहे।

इस अवसर पर मैं अपने सभी सहयोगियों से यह भी निवेदन करना चाहता हूँ कि हिन्दी भाषा का गौरव बनाये रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हिन्दी समाचार पत्र विशेषकर हिन्दी दैनिक अपने को इस प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण बनावें, जिसमें हिन्दी-भाषा-भाषी पाठकों को अन्य भाषाओं के समाचार पत्रों की आवश्यकता न रह जाय और वे समाचार पत्र जगत् में अपना उचित स्थान प्राप्त करें।



दैनिक 'नवराष्ट्र'

बम्बई से दैनिक 'नवराष्ट्र' का प्रकाशन भी लगभग वैसा ही साहसिक कार्य था, जैसा दिल्ली से 'अर्जुन' निकालने का। विचार ऐसे उत्पन्न हुआ कि मुझे 'अर्जुन' सम्बन्धी कार्य से १९३४ में बम्बई जाना पड़ा। वहाँ मेरी बम्बई के प्रसिद्ध व्यवसायी सेठ रणछोड़ दास भवान से भेंट हुई। वे एक गुजराती पत्र के स्वामी थे। उनका अपना प्रेस था। बातचीत के सिलसिले में बम्बई से हिन्दी पत्र निकालने की भी चर्चा हुई। उस समय तो केवल चर्चा ही रही, परन्तु जब १९३५ के नवम्बर में उन्होंने मुझे बम्बई से हिन्दी पत्र निकालने के विषय में बातचीत करने के लिए देवलाली बुलाया तब मेरे मन में भी नया साहसिक कार्य करने का उत्साह जागृत हो गया। मैंने बम्बई के अपने मित्रों से परामर्श करना प्रारम्भ किया। मुझे प्रोत्साहित करने वालों में स्वर्गीय सेठ सूर जी वल्लभ दास मुख्य थे। राजा गोविन्द लाल पित्ती से भी प्रोत्साहन मिला। यात्रा की तैयारी तो हो गई परन्तु दिल्ली के कार्यों से अवकाश पाते-पाते तीन वर्ष लग गये, और १९३८ के अगस्त मास में मैं बम्बई से पत्र निकालने का संकल्प करके

दिल्ली से रवाना हुआ तो मेरे मुख्य सहायक सेठ रणछोड़दास की मृत्यु हो चुकी थी। तो भी परमात्मा पर भरोसा करके बम्बई जा पहुँचा, और पत्र निकालने के लिए हिन्दी समाचार पत्र लि० कम्पनी की योजना आरम्भ की।

कम्पनी बनाने के लिए सब से पहले कम्पनी के ऐसे डायरेक्टर तलाश करने पड़ते हैं, जिन पर जनता का विश्वास हो। यह सौभाग्य की बात थी कि हिन्दी समाचार पत्र लि० को ऐसे प्रतिष्ठित डायरेक्टर थोड़े से परिश्रम से ही मिल गए। प्रारम्भिक डायरेक्टरों में सेठ सूर जी वल्लभ दास, राजा गोविन्द लाल पित्ती और सेठ गोविन्दराम सेकसरिया जैसे प्रभावशाली महानुभाव थे। सेकसरिया जी उन दिनों बम्बई के सट्टा बाजार के मूर्धन्य माने जाते थे। उनके इशारे पर बाजार चढ़ता और उतरता था। उन्होंने पत्र को हर प्रकार की सहायता देने का वचन दिया। इस प्रकार प्रोत्साहन पाने का सुपरिणाम यह हुआ कि लगभग दो मास में कम्पनी रजिस्टर्ड हो गई, २१ दिसम्बर को कम्पनी को कार्य आरम्भ करने की आज्ञा मिल गई और उसी दिन दैनिक 'नवराष्ट्र' का डिक्लेरेशन स्वीकृत हो गया। मुझे एक अनुकूलता यह मिल गई कि उस समय बम्बई प्रान्त के गृहमन्त्री श्री के० एम० मुन्शी थे। कोई कठिनाई आती तो मैं उनके सामने रख देता था। वे बम्बई में एक हिन्दी दैनिक की आवश्यकता को बहुत समय से अनुभव कर रहे थे। १० जनवरी १९३९ के दिन 'नवराष्ट्र' का उद्घाटन समारोह हुआ। उद्घाटनकर्ता श्री मुन्शी जी थे, उपस्थित सज्जनों में श्री भूलाभाई देसाई, सेठ सूर जी

वल्लभ दास आदि महानुभाव प्रमुख थे। शुभ उद्घाटन के ५ दिन पीछे 'नवराष्ट्र' का पहला अंक निकल आया।

मुझे इतने थोड़े समय में कार्य प्रारम्भ हो जाने की आशा नहीं थी। बम्बई का क्षेत्र वस्तुतः एक हिन्दी पत्र के लिए तैयार था। मैंने एक विचित्र बात यह देखी कि जहां गुजराती और मारवाड़ी सज्जन पत्र के संचालन के लिए सोत्साह मिले, वहां बम्बई के उत्तर भारतीय वर्ग ने या तो उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया, अथवा गुप्त विरोध किया। पीछे से मालूम हुआ कि वहां के कुछ उत्तर भारतीय पुराने निवासी स्वयं एक पत्र निकालना चाहते थे, पर साधनाभाव से निकालने में पिछड़ गये थे। यह विशेष स्मरणीय बात थी कि 'नवराष्ट्र' के पहले स्थायी ग्राहक एक महाराष्ट्रीय सज्जन थे। बम्बई में मुझे दूसरा अनुभव यह हुआ कि जो व्यक्ति वहां की परिस्थितियों का पूरा जानकार और मंजा हुआ व्यापारी न हो वह वहां के कारीगरों या श्रमिकों से काम नहीं ले सकता। वे लेबर लोग ऐसे कुशल हैं कि एक सप्ताह में साधारण व्यक्ति का नातका बन्द कर सकते हैं। मैंने इस कठिनाई को इस प्रकार हल किया कि हरेक विभाग के फोरमैन अपने पुराने परिचित दिल्ली के कार्यकर्ताओं में से नियुक्त किए। यदि मैं ऐसा न करता तो शायद 'नवराष्ट्र' प्रेस एक मास तक भी न चल सकता।

पत्र खूब चला। एक ही वर्ष में उसके ५ हजार से ऊपर ग्राहक हो गये थे, और निरन्तर बढ़ रहे थे। विज्ञापन भी आने लगे थे जिससे आशा बंध गई कि अब 'नवराष्ट्र' पत्र चल निकलेगा।

मेरा लक्ष इतना ही था कि बम्बई से एक अच्छा हिन्दी का दैनिक पत्र निकाला जाय, जिसकी आधारशिला इतनी दृढ़ हो कि वह चिरस्थायी रहे। जुलाई में हमे हिन्दी समाचार पत्र लि० के लिए डायरेक्टर रूप में एक नये स्तम्भ मिल गये। इन्दौर के प्रसिद्ध सेठ हीरालाल जी ने डायरेक्टर बनने के अतिरिक्त पत्र के चलाने में पूर्ण सहयोग देने का निश्चय प्रकट किया। इस प्रकार बम्बई जाने का मेरा उद्देश्य पूरा हो गया और मैं योरप का दूसरा महायुद्ध आरम्भ होने पर, दिल्ली वापिस आगया। हिन्दी समाचारपत्र लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर बनना सेठ हीरालाल जी ने स्वीकार कर लिया।



: ८ :

कटुस्मृति

अब मैं अपने पत्रकारिता के औपचारिक अनुभवों के अन्तिम अध्याय पर आता हूँ। वह अध्याय इससे पूर्व के सब अध्यायों से अनूठा था, और सामयिक परिस्थितियों के लिहाज से बहुत शिक्षादायक था, वह अध्याय था—किसी पूंजीपति के समाचार पत्र में सम्पादन कार्य करने का।

पाठकों को आश्चर्य होगा कि जो व्यक्ति अपने ३० वर्षों के पत्रकार जीवन में पूंजीपतियों से टक्कर लेता रहा, वह ६२ वर्ष की आयु में इस जाल में कैसे फंस गया? इसकी भी एक कहानी है, जो संसार की गतिविधि को सूचित करने वाली है। प्रतीत होता है कि यह अन्तिम अध्याय मुझे संसार की गति-विधि की सूचना देने ही आया था। दोष उसका नहीं, जिसका काम ही चकमा देना है, दोष उसका है जो चकमें में आ जाए।

मैं जाल में कैसे फंसा, इसकी कहानी सुनिये :

मुझे चारपाई पर लेटे चार महीने बीत गये थे। चिकने फर्श पर पैर फिसल जाने से मेरी जांघ की हड्डी टूट गई थी, जिसने मुझे लगभग तीन मास तक दिल्ली के प्रसिद्ध जोशी हस्पताल में और एक मास तक घर पर लेटने के लिये बाधित

कर दिया। अभी मैं चारपाई से उठ कर अच्छी तरह घूमने फिरने भी न पाया था कि एक दिन मेरे एक निकट सम्बन्धी महोदय का टेलीफोन आया। जैसे अब तक इस लेखमाला में मैंने सम्बद्ध जीवित व्यक्तियों के नामों को बचाया है, वैसे ही इस लेख में भी बचाऊंगा। प्रयोजन घटनाओं से है, नामों से नहीं। तो, एक दिन मेरे एक निकट सम्बन्धी महोदय ने टेलीफोन द्वारा मुझे सूचना दी : 'समाचार-पत्रों के एक प्रसिद्ध स्वामी और संचालक एक नये हिन्दी पत्र के लिये प्रधान सम्पादक की तलाश में हैं। मैंने उन्हें आपका नाम सुझाया है, जिसे उन्होंने पसन्द भी कर लिया है।' सम्बन्धी महोदय ने मुझ से आग्रह पूर्वक कहा कि 'ये पत्र स्वामी बहुत सज्जन हैं, राष्ट्रीय विचारों के हैं, और बात के धनी हैं। आप अपने स्वभाव के अनुसार उनके प्रस्ताव को रद्द न कर दीजियेगा। मैं उन्हें लेकर आपके पास आऊंगा।'

अगले दिन वे अपने मित्र पूंजीपति महोदय को लेकर मेरे मकान पर आये। मैं सहारा लेकर चारपाई से उठा और बातचीत करने के लिये कुर्सी पर जा बैठा।

लगभग डेढ़ घण्टे तक बातें हुईं। पत्र स्वामी ने अपना अभिप्राय यह बतलाया कि वह दिल्ली से अपने अंग्रेजी अखबार के साथ हिन्दी का ऐसा दैनिक पत्र निकालना चाहते हैं, जो सर्वसाधारण का प्रिय बन जाए, और उसकी ग्राहक संख्या न्यून से न्यून १० हजार तक पहुँच जाए। पत्र की नीति राष्ट्रीय और भाषा सरल होनी चाहिये। उन्होंने कहा कि मैं आपकी योग्यता और नीति से परिचित हूँ, इस कारण

हूँ कि आप इस आयोजन में मेरी सहायता करें। मेरा यह प्रयत्न हिन्दी जगत् के लिये लाभदायक होगा।

मैंने पत्रस्वामी के सम्मुख अपने विचार स्पष्ट शब्दों में रख दिये। मैंने जो कुछ कहा उसका सारांश यह था कि :

१—मैं ३० वर्ष से अधिक समय तक दैनिक पत्रकारिता का काम करता-करता ऊब चुका हूँ। अब शेष समय स्थिर साहित्य की सेवा में लगाना चाहता हूँ।

२—विशेष रूप से इस समय तो शारीरिक अस्वस्थता के कारण मेरी किसी बन्धन में बंधने की सर्वथा इच्छा नहीं है।

३—फिर भी यदि हिन्दी पत्रकारिता का हित समझ कर मैं आपको सहयोग देना चाहूँ तो उसकी कुछ शर्तें हैं। सब से पहली शर्त तो यह है कि मैं पत्र की सम्पादकीय नीति में सर्वथा स्वतंत्र रहूँगा। मैं उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहूँगा। जिस दिन मेरी नीति में हस्तक्षेप किया जायेगा, उसी दिन मैं पत्र से अपना संबन्ध विच्छेद कर लूंगा।

दूसरी शर्त यह कि मुझ पर पत्र-कार्यालय में समय का कोई बन्धन न होगा। संसद, गुरुकुल तथा अन्य सार्वजनिक जिम्मेदारियों के कारण मैं कार्यालय में नहीं बैठ सकूंगा तो भी सम्पादकीय विभाग की पूरी जिम्मेदारी मेरी होगी।

इन दो शर्तों के साथ मैं केवल दो वर्ष तक नया पत्र चलाने में सहायता दूंगा और मैं विश्वास रखता हूं कि यदि प्रेस और प्रबन्ध-विभाग ने पूरी सहायता दी तो दो वर्ष में पत्र की ग्राहक संख्या ३० हजार तक पहुँच जाएगी।

पत्र स्वामी महोदय ने मेरी शर्तें मान ली और शब्दों द्वारा आभार प्रदर्शन करते हुए सूचना दी कि पत्र शृंखला के यूरोपियन मैनेजर आपसे मिल कर सब व्यवस्था ठीक कर लेंगे।

शीघ्र ही यूरोपियन जनरल मैनेजर मुझ से मिले। घण्टा भर बात करने से मैं उनकी योग्यता, चतुरता और सज्जनता का कायल हो गया। थोड़े ही समय में मेरी इच्छानुसार दैनिक पत्र का सम्पादकमण्डल भर्ती हो गया और धूमधाम से पत्र चलने लगा। उस पत्र को लोगों ने कितना पसंद किया और पत्र स्वामी की आशाएं कितनी पूरी हुईं, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि एक वर्ष के अन्दर-अन्दर पत्र १५००० हजार से ऊपर छपने लगा और उसकी ख्याति उसी कार्यालय से निकलने वाले अंग्रेजी दैनिक से अधिक हो गई।

इस प्रकार पत्र को तो सफलता मिली, परन्तु मेरे पैतृक और शिक्षा जनित संस्कारों के कारण एक अड़चन बनी रही। इस वर्ष भर मैंने कभी पत्र स्वामी की कोठी पर पैरी न दी। कार्यालय के छोटे बड़े कर्मचारियों से आशा की जाती थी कि वे सेठ जी के दिल्ली आने पर उनकी कोठी पर हाजिरी देंगे, परन्तु मैंने उस नियम का पालन नहीं किया। मेरे कमरे का द्वार सभी के लिए खुला था। पत्र स्वामी, जनरल मैनेजर, संपादक और चपरासी सभी वहां आ सकते थे और बात कर सकते थे। मैं उसे पर्याप्त समझता था, परन्तु व्यापारिक लोकाचार की दृष्टि से यह दोष समझा गया।

विस्फोट इस प्रकार हुआ। मैंने अपने सम्पादकीय लेख में बम्बई सरकार की एक आज्ञा की कड़ी आलोचना की। पत्र-

स्वामी महोदय की उस आज्ञा से विशेष अनुकूलता थी। मेरा लेख पढ़कर उन्होंने अपने हेडक्वार्टर से दिल्ली के कारोबार के जनरल मैनेजर को फोन द्वारा आज्ञा दी कि वह मुझे उस सम्पादकीय लेख को वापस लेने के लिए कहें। उस बेचारे ने कुछ घबराते हुए स्वामी का संदेश मुझे टेलीफोन से ही कह दिया। मैंने उन्हें उत्तर दे दिया कि मैंने जो लेख लिखा है, वह ठीक समझ कर ही लिखा है, उसे वापस लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मैं पत्र की सम्पादकीय नीति का निर्णय करने में स्वतंत्र हूँ। उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहता।

जब मेरा उत्तर पत्र स्वामी महोदय तक पहुँचा तो वह तिलमिला गए। मुझे उनका पत्र मिला। जिसमें उन्होंने मुझ से अपना मतभेद सूचित करते हुए स्पष्टीकरण की मांग की। बात को जरा हल्का करने के लिये कुछ अप्रासांगिक चीजें भी लिख दीं, परन्तु मुख्य बात नीति सम्बन्धी मतभेद की ही थी।

यह तो स्पष्ट था कि पत्र स्वामी का पत्र उन प्रतिज्ञाओं के सर्वथा विरुद्ध था, जो उन्होंने मुझ से पत्र संचालन में सहयोग मांगने के समय की थीं। मैंने समझ लिया कि व्यापार-चतुर स्वामी एक वर्ष में १५ हजार की ग्राहक संख्या से तो सन्तुष्ट हो गये हैं परन्तु शायद यह समझ कर मेरी इच्छा शक्ति को दबाने की चेष्टा कर रहे हैं कि मैं लगी हुई आजीविका को छोड़ना पसन्द नहीं करूंगा। उस समय मेरे सामने पूंजीपति पत्र स्वामी की मनोवृत्ति का चित्र अपने नग्न रूप में आ गया और मैंने लौटती डाक में उन्हें सूचना दे दी कि "क्योंकि आपने आश्वासन के विरुद्ध मेरी सम्पादकीय नीति में हस्तक्षेप

करने का यत्न किया है, इस कारण मैं आज से पत्र का कार्य छोड़ रहा हूं। मैं न पत्र के लिए कुछ लिखूंगा और न कार्यालय में जाऊंगा।'

मेरे इस निर्णय को सुन कर बेचारे मैनेजिंग डायरेक्टर साहब घबरा गये। उन्होंने मुझ से आग्रह किया कि चाहे मैं पत्र के लिये लिखना छोड़ दूं पर अपना नाम कम से कम महीना भर पत्र पर छपने दूं। अन्यथा पत्र की ग्राहक संख्या गिर जाएगी। उनकी परेशानी पर मुझे सचमुच दया आ गयी और मैंने उन्हें महीना भर अपना नाम पत्र सम्पादक के तौर पर छापने की अनुमति दे दी।

उसके पश्चात् पत्र का क्या हुआ? यह मेरे संस्मरणों का विषय नहीं है। मेरे उस एक वर्ष के संस्मरण तो पूंजीपति महोदय के उस अन्तिम पत्र के साथ समाप्त हो जाते हैं। शेष रह जाती है, एक कटुस्मृति, जिसने मेरे हृदय पर यह बात अंकित कर दी है कि जो पत्रकार विचारों की स्वाधीनता से प्रेम रखता है, उसे पूंजीपति के सत्संग से बचना ही चाहिये। पूंजीपतियों का पत्र संचालन कोरा व्यवसाय है, उसमें आदर्शवाद की गुंजाइश नहीं।

मैं यहां इतनी बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि पूंजीपति पत्र स्वामी एक ही ढांचे पर ढले हुए नहीं हैं। मोटे तौर पर उन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। कुछ पत्र-स्वामियों के लिए समाचार पत्र अर्थ प्राप्ति के मुख्यसाधन हैं। इस श्रेणी में वे पत्र स्वामी आते हैं जो समाचार पत्र व्यवसाय से ही पूंजीपति बने हैं। उनका दृष्टिकोण आर्थिक है। वे

स्वामी महोदय की उस आज्ञा से विशेष अनुकूलता थी। मेरा लेख पढ़कर उन्होंने अपने हेडक्वार्टर से दिल्ली के कारोबार के जनरल मैनेजर को फोन द्वारा आज्ञा दी कि वह मुझे उस सम्पादकीय लेख को वापस लेने के लिए कहें। उस बेचारे ने कुछ घबराते हुए स्वामी का संदेश मुझे टेलीफोन से ही कह दिया। मैंने उन्हें उत्तर दे दिया कि मैंने जो लेख लिखा है, यह ठीक समझ कर ही लिखा है, उसे वापस लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मैं पत्र की सम्पादकीय नीति का निर्णय करने में स्वतंत्र हूँ। उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहता।

जब मेरा उत्तर पत्र स्वामी महोदय तक पहुँचा तो वह तिलमिला गए। मुझे उनका पत्र मिला। जिसमें उन्होंने मुझ से अपना मतभेद सूचित करते हुए स्पष्टीकरण की मांग की। बात को जरा हल्का करने के लिये कुछ अप्रासंगिक चीजें भी लिख दीं, परन्तु मुख्य बात नीति सम्बन्धी मतभेद की ही थी।

यह तो स्पष्ट था कि पत्र स्वामी का पत्र उन प्रतिज्ञाओं के सर्वथा विरुद्ध था, जो उन्होंने मुझ से पत्र संचालन में सहयोग मांगने के समय की थीं। मैंने समझ लिया कि व्यापार-चतुर स्वामी एक वर्ष में १५ हजार की ग्राहक संख्या से तो सन्तुष्ट हो गये हैं परन्तु शायद यह समझ कर मेरी इच्छा शक्ति को दबाने की चेष्टा कर रहे हैं कि मैं लगी हुई आजीविका को छोड़ना पसन्द नहीं करूंगा। उस समय मेरे सामने पूंजीपति पत्र स्वामी की मनोवृत्ति का चित्र अपने नग्न रूप में आ गया और मैंने लौटती डाक में उन्हें सूचना दे दी कि 'क्योंकि आपने आश्वासन के विरुद्ध मेरी सम्पादकीय नीति में हस्तक्षेप

करने का यत्न किया है, इस कारण मैं आज से पत्र का कार्य छोड़ रहा हूँ। मैं न पत्र के लिए कुछ लिखूंगा और न कार्यालय में जाऊंगा।'

मेरे इस निर्णय को सुन कर बेचारे मैनेजिंग डायरेक्टर साहब घबरा गये। उन्होंने मुझ से आग्रह किया कि चाहे मैं पत्र के लिये लिखना छोड़ दूं पर अपना नाम कम से कम महीना भर पत्र पर छपने दूं। अन्यथा पत्र की ग्राहक संख्या गिर जाएगी। उनकी परेशानी पर मुझे सचमुच दया आ गयी और मैंने उन्हें महीना भर अपना नाम पत्र सम्पादक के तौर पर छापने की अनुमति दे दी।

उसके पश्चात् पत्र का क्या हुआ? यह मेरे संस्मरणों का विषय नहीं है। मेरे उस एक वर्ष के संस्मरण तो पूंजीपति महोदय के उस अन्तिम पत्र के साथ समाप्त हो जाते हैं। शेष रह जाती है, एक कटुस्मृति, जिसने मेरे हृदय पर यह बात अंकित कर दी है कि जो पत्रकार विचारों की स्वाधीनता से प्रेम रखता है, उसे पूंजीपति के सत्संग से बचना ही चाहिये। पूंजीपतियों का पत्र संचालन कोरा व्यवसाय है, उसमें आदर्शवाद की गुंजाइश नहीं।

मैं यहां इतनी बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि पूंजीपति पत्र स्वामी एक ही ढांचे पर ढले हुए नहीं हैं। मोटे तौर पर उन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। कुछ पत्र-स्वामियों के लिए समाचार पत्र अर्थ प्राप्ति के मुख्यसाधन हैं। इस श्रेणी में वे पत्र स्वामी आते हैं जो समाचार पत्र [illegible] से ही पूंजीपति बने हैं। उनका दृष्टिकोण आर्थिक है

समाचार पत्र को एक कारखाना समझते हैं और उसमें काम करने वाले पत्रकारों को मजदूर और मेट।

दूसरी श्रेणी उन पत्र स्वामियों की है, जिनकी दृष्टि में समाचार पत्र उनकी व्यक्तिगत धारणाओं के पोषण का साधन है। कभी-कभी उनका अपना चित्र पत्र में छपता रहे, उनके हार्दिक विचारों का पोषण होता रहे और सम्पादक महोदय सप्ताह में दो बार दरबार में हाजिरी देते रहें और पत्र घाटा न दे, बस, उनके लिये इतना ही पर्याप्त है।

तीसरी श्रेणी में उन पत्र स्वामियों की गणना करनी चाहिये, जिनकी आर्थिक स्थिति समाचार पत्रों पर आश्रित न हो कर व्यापार द्वारा सुरक्षित है और जो ऊँची शिक्षा-दीक्षा और भावनाओं के कारण चाटुकारिता से ऊपर उठे हुए हैं। उनके लिये पत्र व्यवसाय अन्य व्यवसायों का सहायक तो है ही, परन्तु मुख्य रूप से वे उसे अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का साधन मानते हैं। ऐसे पत्र स्वामी पहिली दो श्रेणियों के पत्र स्वामियों से अधिक उदार हैं। उनकी सेवा में स्थिरता अधिक है, और कुछ निश्चित सीमाओं वाले दायरे के अन्दर थोड़ी बहुत सम्पादकीय स्वाधीनता भी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि काफी लम्बे समय के लिये भारत का पत्र व्यवसाय इन तीनों श्रेणियों के पूंजीपतियों के हाथों में चला गया है और जब तक देश की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति में कोई बड़ी क्रान्ति न होगी, उन्हीं हाथों में रहेगा। वे दिन दूर चले गये, जब सम्पादक ही पत्र का विधाता हुआ करता था। तब हम पराधीन थे, इस कारण

स्वाधीनता के सपने देखा करते थे। अब हम स्वाधीन हो गये हैं, अतः वे सपने काफूर हो गये और संसार का असली रूप सामने आ गया।



: ६ :

समाचार पत्र का प्रारम्भ काल

समाचार पत्र को तैयार करने में दो कार्य करने पड़ते हैं। पहिले समाचार का संग्रह किया जाता है, फिर उन्हें प्रकाशित किया जाता है।

समाचारों का संग्रह करने की प्रथा बहुत पुरानी है। महाभारत के समय महायुद्ध के दैनिक समाचार संजय धृतराष्ट्र को सुनाया करता था। संजय के पास पूरे समाचार प्राप्त करने का साधन अवश्य होगा। इतने विशाल युद्ध की खबरें इकट्ठी करने के लिए काफी विस्तृत संगठन होना चाहिए।

समाचारों के संग्रह का कार्य मुख्यतः शासन कार्य में सुविधा प्राप्त करने के लिए किया जाता था। यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रत्येक शहर में एक ऐसा राजकीय विभाग बना हुआ था, जिसका कार्य मृत्यु और जन्म की गणनायें एकत्र करना था। उन्होंने यह भी लिखा है कि राज्य की ओर से वृत्त संग्रह करने वाले कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। अशोक के लेखों में भी उनकी चर्चा मिलती है। राजकाज के लिए समाचारों का संग्रह आवश्यक समझा जाता था, और इस कार्य के लिए विशेष रूप से कुशल व्यक्ति नियत किये जाते थे।

योरप में समाचारों के नियमित संग्रह की प्रथा का प्राविष्कार जूलियस सीजर की प्रतिभा ने किया। उसने रोम की दैनिक घटनाओं के समाचारों का संकलन करने के लिए विशेष कर्मचारी नियुक्त किए, उस दैनिक संग्रह का नाम (Acta Dwrma) था। राज्य की आज्ञायें, महत्वपूर्ण मुकदमों का विवरण, ऋतु परिवर्तन, दंगे फ़साद, आग आदि तथा विशेष और मनोरंजक घटनाओं का लिखित विवरण शहर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर चिपका दिया जाता था।

इधर भारत में मुग़ल काल में प्रायः प्रत्येक दरबार के साथ अखबार नवीस सम्बद्ध रहते थे, जिनकी रचनाओं का नाम अखबारनामा था। अखबारनामे में हर तरह की और विशेष रूप से राजनीतिक घटनाओं का संग्रह रहता था। अख़बार शब्द का जन्म यहीं से हुआ है। उस समय के अखबारनामों और अखबारों में इतना ही भेद है कि वह जनता के लिए नियत समयों पर प्रकाशित नहीं किए जाते थे। प्रत्युत इकट्ठे पुस्तक रूप में प्रकाशित होते थे। उस समय के इतिहास के संकलन में उन अखबारनामों से पर्याप्त सहायता मिलती है।

समाचार का संग्रह मुख्यतः दो उद्देश्यों से किया जाता है। एक तो जानने की स्वाभाविक इच्छा और ज्ञान बढ़ाने की निष्काम कामना की तृप्ति के लिए और दूसरे राजकार्य में उपयोगी होने के कारण। दोनों ही कारण मनुष्य जाति में बहुत प्राचीन काल से विद्यमान रहे हैं, और इसलिए समाचारों का संग्रह और लिखित रूप में उनका संकलन होता रहा

है। प्राचीन इतिहास के निर्माण में ऐसे संकलन पर्याप्त उद्योगी सिद्ध हुए हैं। मराठाशाही का विस्तृत इतिहास लिखने में उस समय के बखरों से अत्यधिक सहायता मिली है। बखर उस समय की आवश्यक राजनीतिक घटनाओं के अप्रकाशित समाचार पत्र थे।

संगृहीत समाचारों के प्रकाशन की पद्धति का सब से पुराना दृष्टान्त जूलियस सीजर के समय का मिलता है जिसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। आवश्यक होने पर शासक लोग अपने लिए उपयोगी समाचारों को घोषणाओं के रूप में प्रकाशित कर देते थे, परन्तु नियमित रूप से जनता के समाचार पत्रों का जन्म १५ वीं शताब्दी में हुआ समझना चाहिए। उस शदी में चिट्ठियों के रूप में औगसवर्ग, वायना, रैटिस्बन, नूरम्बर्ग आदि नगरों में गैरसरकारी समाचार पत्रों के प्रकाशित होने का विवरण मिलता है। योरप में सब से प्रथम सरकारी समाचार पत्र १५५६ ई० में वैनिस शहर से प्रकाशित किया गया, जिसकी लिखित प्रतियाँ शहर के विशेष-विशेष स्थानों पर चिपका दी जाती थीं। उन्हें पढ़ने का प्रत्येक नागरिक को अधिकार नहीं था, जो पढ़ना चाहें उन्हें कुछ दाम देने पड़ते थे, जिसे गजटा कहते थे। पत्र के पर्यायवाची गजट शब्द की उत्पत्ति गजटा शब्द से ही हुई है।

वेनिस के इन हस्तलिखित समाचारों को जनता ने बहुत पसंद किया। उनकी माँग इतनी बढ़ी कि सरकार को उनके छापने का प्रबन्ध करना पड़ा। इस समय छपे हुए और दाम से मिलने वाले समाचार पत्र का योरप में जन्म हुआ। वेनिस



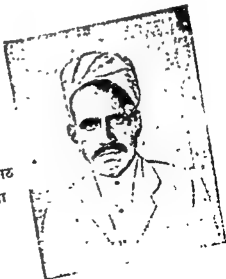
'सद्धर्म प्रचारक'
के संस्थापक
लाला मुंशीरामजी,
३० मई, सन् १८९४
का चित्र



साप्ताहिक 'विजय' के
प्रेरक, सन्यास ग्रहण
करने से पूर्व महात्मा
मुंशीरामजी



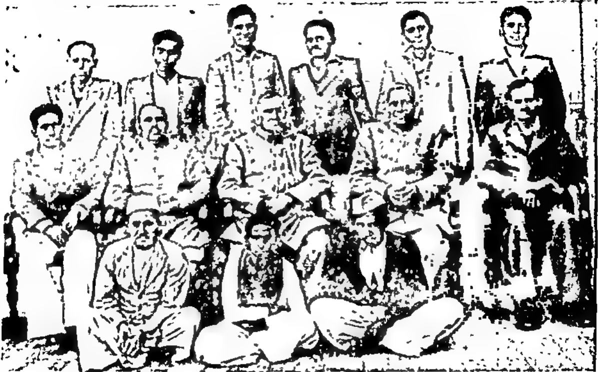
साप्ताहिक 'विजन' के संस्थापक श्री हरिश्चन्द्रजी 'आकाश में लम्बी' उड़ान भरने वाले पक्षी की तरह सन् १४ में विदेश गये और देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष करते हुए अज्ञात परिस्थितियों में ही निछावर हो गये।



दैनिक 'नवराष्ट्र' के अन्यतम सचालक श्री सेठ गोविन्दराम सेकसरिया



लेखक:



'वीर अर्जुन' के सम्पादकीय विभाग में लेखक

दिल्ली

२० - ८ - ६०

[illegible]

प्रियवर [illegible] जी

पत्र मिला। [illegible]
[illegible]
होगा। [illegible]
[illegible]
मिलने की [illegible]
[illegible]
[illegible] जायेगा।

आपका

[illegible]

लेखक की हस्तलिपि

का यह प्रारम्भिक समाचार पत्र नोटिज़िक स्क्रिप्टे कहलाता था।

समाचार पत्र का विकास

उस प्रारम्भिक काल के समाचार पत्रों का एक दृष्टान्त लीजिये। १७वीं शताब्दी के आरम्भ में लन्दन से एक अखबार निकलता था। उसका नाम था 'दी वीक्ली न्यूज'(The Weekly News) उसके सम्पादक का नाम मि० बटर था। 'वीक्ली न्यूज' निश्चित दिनों में नहीं निकलता था। जब कोई विशेष घटना होती थी तब पर्चा तैयार करके छापा जाता और बांटा जाता था। 'वीक्ली न्यूज' में समाचारों के साथ चित्र भी रहते थे।

राज्य के साथ स्वतन्त्र समाचार पत्र का संघर्ष प्रारम्भ से ही जारी हो गया था। 'वीक्ली न्यूज' को प्रेस सेन्सर ने बहुत तंग किया। मि० बटर ने काफी धैर्य से सरकारी प्रहारों का सामना किया। परन्तु अन्त में बलवान विरोधी के सामने उसे हार माननी पड़ी और १६६१ में 'वीक्ली न्यूज' बन्द हो गया।

उस समय के समाचार पत्र की विशेषताओं का हम निम्न-लिखित रूप से परिगणन कर सकते हैं—

१—उसमें सामयिक घटनाओं का उल्लेख होता था।

२—ऐसे समाचारों को भी स्थान दिया जाता था जिन्हें सरकार पसंद न करे।

३—समाचारों की सहायता के लिये सम्बद्ध चित्र भी दिये जाते थे।

४—पत्र आवश्यकतानुसार निकाला जाता था और सैकड़ों की संख्या से शायद ही कभी बढ़ता हो।

५—पत्र का आकार या पृष्ठ संख्या भी अनिश्चित थी। आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन होता रहता था।

६—मि० बटर का दफ्तर एक छोटे से कमरे में था, जहाँ सम्पादन, प्रबन्ध और वितरण आदि सब कार्य हो जाते थे।

समाचार पत्र का यह रूप १७वी शताब्दी में था। यह २०वी शताब्दी का मध्य है। लगभग इन तीन सौ वर्षों में, समाचार पत्रों में जो परिवर्तन आये हैं, यदि बीच की शृंखलाओं को छोड़ कर केवल उनके अन्तिम रूप को देखें तो हमें मानना पड़ेगा कि एक विशाल क्रान्ति हो गई है। हाँ, जब ३०० वर्षों के इतिहास को भी देखा जाय तो अन्य सब वस्तुओं की तरह समाचार पत्रों में भी निरन्तर विकास का क्रम दिखाई देता है।

वर्तमान समाचार पत्र वर्तमान युग का सब से अधिक प्रभावशाली आविष्कार है। राज्यों की रक्षा का साधन सेना को माना जाता है, परन्तु समाचार पत्र का प्रभाव सेनाओं से कहीं अधिक हो गया है।

वर्तमान समाचार पत्र का निर्माण, उसका प्रचार, और जनता तथा राज्य पर उसका प्रभाव यह सभी कुछ आश्चर्यजनक है। दो, चार या छः पैसे में खरीद कर प्रतिदिन पत्र पढ़ने वालों को यह कल्पना भी नहीं हो सकती कि जो चार या छः पन्ने उनके हाथ में हैं, वह कितने विशाल और पेचीदा संगठन से तैयार किये गये हैं। समाचार पत्र समाज पर जो असर डालते हैं, वह उसी विशाल और पेचीदा संगठन का परि-

एाम है, जिस पर समाचार पत्र का तैयार होना आश्रित है।

वर्तमान समाचार पत्र ३०० वर्ष पूर्व के समाचार पत्र से कुछ मौलिक बातों में मिलता है। अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तनों के हो जाने पर भी समाचार पत्र का मुख्य कार्य आज भी समाचार देना ही है। जनता तक अप्रिय सच्ची बात पहुँचाने से जैसे उस समय सरकार अप्रसन्न होती थी, आज भी होती है। शेष प्रायः सभी अंगों में बहुत परिवर्तन आ गया है। प्रभाव में आजकल का समाचार पत्र सरकार से बराबर की टक्कर लेता है। कानून की शक्ति सीधे तौर से हाथों में न होने से उसे कानून से तत्काल दबाना पड़ता है, परन्तु लोकमत द्वारा वह कानून को प्रभावित करने की भी शक्ति रखता है। इस कारण उसके प्रभाव को दीर्घ दृष्टि से देखें तो वह सरकार से कम नहीं।

ऊँचे दर्जे के पत्र का संचालन भी छोटी-मोटी रियासत से कम विस्तृत या पेचदार नहीं। गत ३०० वर्षों में समाचार पत्र का विस्तार और प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया है। प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्थाओं के विकास के साथ-साथ उसके पत्र समुदाय का भी विकास होता गया है।

इस क्रान्तिकारी विकास के मुख्यतः ५ कारण हुए :

१—सर्वसाधारण में शिक्षा की वृद्धि से पत्रों की मांग में वृद्धि।

२—जनता के राजनीति और धार्मिक विचारों में उथल पुथल।

३—राजनीति का अन्तर्राष्ट्रीय रूप हो जाने से प्रत्येक देश में दूसरे देश के समाचारों को जानने की अभिलाषा का बढ़ जाना।

४—विज्ञान और शिल्पकला की वृद्धि के कारण समाचार संग्रह और मुद्रणादि के साधनों में असाधारण उन्नति।

५—पृथ्वी, जल और आकाश में यातायात के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाने के कारण वितरण की सहूलियत हो जाना।

इन ३०० वर्षों में बढ़ते-बढ़ते पत्र की ग्राहक संख्या लाखों तक पहुँच गई है। युद्ध की विशेष परिस्थितियों को छोड़ दें तो प्रायः सभी प्रमुख दैनिक पत्र एक दिन में कई-कई संस्करण निकालते हैं। इतने बड़े मुद्रण और वितरण के लिये मुद्रण और वितरण करने की मशीनरी भी बहुत ही विशाल और सूक्ष्म हो गई है। समाचारों के संग्रह कार्य ने संसारव्यापी रूप धारण कर लिया है। पत्र के सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन का कार्य एक उन्नत और कठिन कला के रूप में परिणत हो गया है। जो लोग सफल पत्रकार बनना चाहें, उनके लिये आवश्यक हो गया है कि वह पत्रकार कला का गंभीर अनुशीलन करें। अब केवल अच्छा लिख सकना या अच्छा छाप सकना अच्छे समाचार पत्र के उत्पादन के लिये पर्याप्त नहीं है।

★

समाचार पत्र के उपयोग

समाचार पत्र जनता के लिये मुख्यतः तीन प्रकार से उपयोगी होता है :

क—यह समाचार देता है,

ख—विचार देता है, और

ग—विज्ञापन प्रकाशित करता है।

इस दृष्टि से समाचार, विचार और विज्ञापन, समाचार-पत्र के यह तीन प्रधान कार्य हैं।

आइये हम इन तीनों का पृथक् पृथक् विवेचन करें।

समाचार

हमने देखा है कि समाचार पत्र का जन्म जनता को समाचार देने के लिये हुआ। आज भी लोग उसे मुख्यतः समाचार जानने के लिये ही पढ़ते हैं। इस कारण हम कह सकते हैं कि समाचार पत्र का सर्वप्रधान कार्य समाचार देना है। इसी कारण सामयिक पत्र आदि अन्य अनेक नामों की उद्भावना हो जाने पर भी उसका 'समाचार पत्र' यह नाम ही सर्वथा उचित और सार्थक है।

यह तो समाचार पत्रों के सभी पाठक आसानी से मान जायेंगे कि उनका मुख्य कार्य समाचार देना है, परन्तु यदि प्रत्येक पाठक के दृष्टिकोण को अलग-अलग देखने लगें तो उनमें बहुत बड़ा भेद मिलेगा। आप दैनिक पत्र के १० पाठकों को चुन लीजिये और जब वह प्रातःकाल पत्र हाथ में ले लें तब उनकी गतिविधि को बारीकी से देखिये। आप देखेंगे कि किसी ने पत्र को पहिले पृष्ठ से पढ़ना प्रारम्भ किया तो किसी ने दूसरे से। किसी ने पहिले चौथे पृष्ठ पर दृष्टि डाली तो किसी ने तीसरे को खोल कर देखना प्रारम्भ किया। यह भेद क्यों हुआ? आप पूछताछ करेंगे तो आपको विदित होगा कि उनमें से एक पाठक को लड़ाई की खबरों का शौक है, तो दूसरे को सोने चांदी या रुई के भाव में उतार चढ़ाव को जानने की उत्सुकता है। तीसरा बम्बई में होने वाले क्रिकेट के मैच का नतीजा जानने के लिये उतावला बैठा है, तो चौथे को यह चिन्ता है कि स्थानीय समाचारों में उसकी वह वक्तृता छपी या नहीं जो उसने कल शाम की सभा में दी थी। जो जिसके शौक की चीज है वह उसी को पत्र में तलाश करता है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकृतियां रखते हुए भी पत्रों के विविध पाठक एक बात से सहमत हो जायगे कि पत्र में बहुत सा रद्दी मामला भरा होता है। आप ऐसा कहने वाले हर एक पाठक को पत्र का एक पर्चा दे दीजिये और कहिये कि जिसे आप रद्दी मामला समझते हैं उस पर मोटा निशान लगा दीजिये, और फिर निशान लगे हुए पर्चों को एकत्र करके मिलान कीजिये, तब आप अनायास हँस पड़ेंगे। पत्र में बहुत-सा रद्दी

मामला है इससे सभी लोग सहमत हो सकते हैं परन्तु वह रद्दी मामला कौन-सा है इस विषय में प्रायः सभी असहमत होंगे। एक पाठक ने जिस रचना को अत्यावश्यक समझा है, दूसरा उसे छांट कर रद्दी करार दे देता है, और दूसरे ने जिसे अत्यन्त आवश्यक समाचार समझा है, उसे तीसरा रद्दी की श्रेणी में रखता है। कारण स्पष्ट है भिन्नरुचिर्हि लोकाः। परिस्थिति, शिक्षा और रोजगार के भेद से लोगों की वृत्तियां भिन्न-भिन्न होती हैं। समाचार पत्र को सभी रुचियों के लोग पढ़ते हैं और उनमें अपनी रुचि के समाचारों को तलाश करते हैं। पत्रकार को पत्र तैयार करते समय सभी श्रेणियों की ओर दृष्टि रखनी पड़ती है—यही कारण है कि सामान्यतः समाचार पत्र में सभी प्रकार के समाचार देने पड़ते हैं। प्रत्येक पाठक अपनी रुचि के अनुसार समाचार पत्र को पढ़ता है, परन्तु पत्रकार सब पाठकों की रुचि का ध्यान रखते हुए पत्र तैयार करता है।

समाचार पत्र के इस रूप को देखें, तब हम यह अनुभव कर सकते हैं कि पत्रकार का कार्य कितना विस्तृत और कितना कठिन है। यदि वह अपने पत्र को वस्तुतः समाचार पत्र बनाना चाहता है तो उसे सभी प्रकार के समाचार प्रकाशित करने चाहिए।

समाचारों को प्रकाशित करने से पूर्व उन्हें संग्रह करना पड़ता है। समाचारों का संग्रह और प्रकाशन—यह दो पृथक् पृथक् कार्य हैं। हम इन दोनों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

२. समाचारों का संग्रह

पत्रों की प्रारम्भिक दशा में समाचारों के संग्रह का कार्य

बहुत सीधा था। जो समाचार सम्पादक के पास स्वयं पहुँच गए अथवा जिस समाचार को पत्र का सम्पादक जाकर ले आया, वह समाचार पत्र में प्रकाशित कर दिए जाते थे। पत्रों के विकास के साथ-साथ समाचारों का क्षेत्र बढ़ता गया। वह यहाँ तक बढ़ा है कि १—उसका विस्तार जहाँ तक भूमण्डल व्यापी हो गया है वहाँ तक, दूसरी ओर २—यह मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन के प्रत्येक अंग में व्याप्त हो गया। इस परिवर्तन के साथ-साथ और उसी के कारण समाचार संग्रह के साधन में और उपायों में भी परिवर्तन आ गया है। वर्तमान दैनिक समाचार पत्र में जो समाचार प्रकाशित होते हैं उनका बहुत थोड़ा हिस्सा—शायद बीस फीसदी हिस्सा ही—उसके अपने विशेष सम्वाददाता द्वारा संग्रहीत होता है। शेष ८० फीसदी समाचार समाचार भेजने वाली एजेन्सियों द्वारा इकट्ठे करके समाचार पत्रों को भेजे जाते हैं। यह एजेन्सियाँ देश देशान्तर में अपने-अपने संवाददाताओं को रखती हैं और वैज्ञानिक साधनों से पूरा लाभ उठा कर शीघ्र से शीघ्र समाचार पत्रों तक उनके पहुँचाने का यत्न करती हैं।

एक साधनसम्पन्न वर्तमान समाचार पत्र कार्यालय में समाचार देने वाली एजेंसियों, पत्र के अपने संवाददाताओं, और लोगों के भेजे हुए समाचारों का इतना बड़ा ढेर प्रतिदिन लग जाता है कि यदि उन सब को छाप कर प्रकाशित किया जाय तो समाचार पत्रों की पृष्ठ संख्या वर्तमान पृष्ठ संख्या से शायद बीसगुनी कर देनी पड़े। तब भी पूरे समाचार समा सकेंगे—यह कहना कठिन है। पत्र के समाचार-सम्पादक का सब से

मुख्य कार्य समाचारों का संग्रह करना या लिखना नहीं, उन में से छपने योग्य समाचारों का चुनाव करना, अनावश्यक समाचारों को रद्दी में फेंकना, अत्यधिक विस्तृत समाचारों को संक्षिप्त करना—संक्षेप में कह सकते हैं कि समाचारों की काट-छांट करना है। जो समाचार-सम्पादक काट-छांट के कार्य में निपुण है वही निपुण सम्पादक कहलाता है।

एजेंसियों द्वारा एक से समाचार प्राप्त होने पर भी एक ही शहर से निकलने वाले समाचारों में जो भेद पाया जाता है, उसका मुख्य कारण यही काट-छांट है। हरेक पत्र का अपना अपना दृष्टिकोण होता है। कोई राजनीतिक समाचारों को अधिक महत्व देता है, तो किसी की दृष्टि व्यापारिक समाचारों पर होती है। नीति और दृष्टि के भेद से पत्रों के सब सम्पादक संसार भर से प्राप्त हुए समाचारों की काट-छांट करते हैं। उसी से पत्रों में भिन्नता आ जाती है। समाचार पत्रों के कार्यालय में समाचार-सम्पादकों का सबसे मुख्य कार्य प्राप्त समाचारों में से अपनी नीति और रुचि के समाचार का चुनाव और अपने दृष्टिकोण से उनका प्रदर्शन ही है।

अपनी नीति और अपने पाठकों के दृष्टिकोण से समाचारों की काट-छांट कर देने पर भी प्रत्येक समाचार में उसके प्रत्येक पाठक की दृष्टि से कुछ न कुछ मसाला ऐसा रहता है जिसे वह फालतू समझता है। उस पर दृष्टिपात भी नहीं करता परन्तु वही मसाला उसी पत्र के अन्य पाठकों की दृष्टि में सबसे अधिक रुचिकर होता है।

४. विचार

समाचार पत्र का दूसरा कार्य विचार देना है। प्रारम्भ में शायद यह कार्य अत्यन्त गौण रहा हो, तथापि यह तो मानना पड़ेगा कि जन्मकाल से ही पत्र लोकमत को प्रभावित करने की भावना से प्रेरित होते रहते हैं। वर्तमान युग में तो समाचार पत्र जनता और सरकार के विचारों को प्रभावित करने का सबसे जबर्दस्त साधन माना जाता है।

समाचार पत्र पाठकों के मन पर निम्नलिखित उपायों से अपने विचारों का प्रभाव उत्पन्न करता है—

१. सम्पादकीय लेख द्वारा।

२. समाचारों के चुनाव द्वारा।

३. समाचारों के प्रदर्शन, शीर्षक-प्रयोग द्वारा।

किसी पत्र का सम्पादक सार्वजनिक विषयों पर अपना मत प्रकट करना चाहे तो उसके लिए सब से सीधा और सुलभ उपाय यह है कि वह सम्पादकीय लेख द्वारा अपने विचार प्रकाशित करे। लेखक के नामांकित लेखों द्वारा भी पत्र की सम्पादकीय नीति प्रकट की जा सकती है। संसार के जितने सम्मानित और प्रभावशाली पत्र हैं, उनके सम्पादकीय लेख बड़े मनोयोग पूर्वक पढ़े जाते हैं, क्योंकि उनसे स्पष्ट, निर्भयता-पूर्ण और प्रकट नीति प्रदर्शन की आशा रखी जाती है। जिस पत्र के सम्पादकीय लेखों में यह गुण है वह जनता की दृष्टि में सम्मान का पात्र समझा जाता है।

दूसरा उपाय जिससे पत्र का सम्पादक पाठकों तक अपने विचार पहुँचा सकता है, समाचारों का चुनाव है। पत्र में

प्रति दिन कुछ समाचार तो ऐसे होते हैं जिनका प्रत्येक पत्र में दिया जाना आवश्यक है। पत्र की नीति कोई हो उन समाचारों की आशा तो प्रत्येक पाठक ही करता है, परन्तु बहुत से समाचार ऐसे भी रहते हैं जिनमें से काट-छांट करके चुनाव किया जा सकता है। चुनाव करते हुए प्रायः सम्पादक का मत उसकी का पथप्रदर्शक बन जाता है। जिन समाचारों को वह पाठकों तक पहुँचाना चाहता है उन्हें विस्तार से दे देता है और जिन्हें पसंद नहीं करता उन्हें काट कर फेंक देता है। राजनीति, धर्म, साहित्य आदि सभी दिशाओं में सम्पादक का कोई न कोई मत होता है। जो उस समय अपना प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष असर दिखलाता है, जब किसी पत्र का सम्पादक समाचारों की काट-छांट करने बैठता है।

सम्पादकीय विचारों को प्रकट करने का तीसरा उपाय शीर्षक है। शीर्षकों का महत्व गत ५० वर्षों में बहुत अधिक बढ़ गया है। शीर्षकों का प्रारम्भ तो केवल लेख का विषय सूचित करने के लिये ही हुआ था, परन्तु धीरे-धीरे वे पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने, रुचि बढ़ाने और सम्मति द्वारा परोक्ष रूप से लोकमत को प्रभावित करने के काम में आने लगे हैं। अब तो शीर्षक बनाना स्वयं एक अलग हुनर बन गया है। समाचारों की काट-छांट और शीर्षकों द्वारा टेढ़े तरीके पर लोकमत को प्रभावित करना धर्मशास्त्र के अनुकूल है या प्रतिकूल, इस प्रश्न पर हम यहाँ विचार नहीं करते। जो बातें पत्रकार कला का अंग बन चुकी हैं और जिनका प्रयोग सर्वसम्मत हो गया है, उन्हें जानना और उनके प्रयोग की विधि में निपुण होना प्रत्येक पत्रकार

: ११ :

समाचार पत्रों की शक्ति

१. पत्रों की शक्ति का रूप

वर्तमान सभ्य संसार में समाचार पत्रों ने जो शक्ति प्राप्त कर ली है, वह संभवतः अपूर्व शक्ति है। पुराने इतिहास में केवल दो संस्थायें इससे मिलती जुलती शक्ति प्राप्त कर चुकी हैं। कई देशों में एक समय राजा या राज्य की शक्ति सर्वोपरि मानी जाती थी। मनुष्य जीवन का कोई अंग उसके असर से बाहर नहीं था। दूसरे समय, धर्माधिकारी लोग राजा और प्रजा दोनों से अधिक शक्ति सम्पन्न हो गये थे। समाचार पत्रों की वर्तमान शक्ति में राज्य और धर्म की भूतपूर्व शक्ति से यह विशेषता है कि जहां वह शक्ति दण्ड पर आश्रित थी, वहां यह शक्ति लोकमत पर आश्रित है। शारीरिक अथवा सामाजिक दण्ड देने की सीधी शक्ति न रहते हुए भी केवल लोकमत के बल पर वर्तमान समाचार पत्र इतने सशक्त हैं कि उन्हें कभी 'फोर्थ एस्टेट' कभी 'पावर बिहाइण्ड दी थ्रोन' और कभी 'थ्रास पावर फुल' आदि नामों से पुकारा जाता है। बड़े से बड़े शक्ति संपन्न व्यक्ति यह जानने को उत्सुक रहते हैं कि पत्र उनके बारे में क्या लिखते हैं। सभी राज्य पत्रों का मत जानने के लिये और

पत्रों को प्रभावित करने के लिये विशेष विभाग की स्थापना करते हैं। धर्माचार्य अपने विचारों को प्रकट करने के लिये पत्र का मुंह देखते हैं। यह तो हुई बड़े व्यक्तियों की बात। मध्यम श्रेणी और छोटी श्रेणी के लोगों में भी समाचार पत्रों की पर्वाह कुछ कम नहीं है। वह पत्रों को ही अपना मार्ग-दर्शक मानते हैं और उन्हीं से शाबाशी की आशा रखते हैं। ऐसे लोग तो बहुत से मिल जायेंगे, जो यह कहें कि 'हमें पत्रों की पर्वाह नहीं', 'यह कुछ कहें, हम तो अपने मन की करते हैं,' परन्तु ऐसे लोग बहुत ही कम—शायद लाखों में दो एक मिलेंगे, जो सार्वजनिक, देश का, कोई कार्य करने अथवा सार्वजनिक विषय पर मत प्रकट करने के पश्चात् उत्सुकता से पत्रों को न देखते हों कि समाचार पत्र उस पर क्या राय देते हैं। यह उत्सुकता समाचार पत्रों की शक्ति का प्रमाण है।

पत्रों का इतिहास शक्ति के उज्ज्वल दृष्टान्तों से भरा हुआ है। इंगलैण्ड के शक्तिशाली पत्रों में 'टाइम्स' का नाम सर्वोच्च समझा जाता है। यह ख्याति उस पत्र को वर्तमान नीति के कारण नहीं मिली। इस ख्याति का जन्म तब हुआ था, जब उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में डिलेन के सम्पादकत्व में 'टाइम्स' यौरप के शासकों के लिये आतंक का कारण बना हुआ था। डिलेन समाचार पत्रों की निर्भय स्वाधीनता का खरा नमूना था। उसकी सम्पादकता में 'टाइम्स' को "दी थण्डरर" वज्रनाद के नाम से पुकारा जाता था। 'टाइम्स' का अग्रलेख भाषा में तेजस्वी, भाव में सच्चा और भावना में निर्भय होता था। 'टाइम्स' की निर्भयता का एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। १८५१ में

लूई नैपोलियन ने फ्रान्स की रिपब्लिक को तोड़ कर जबर्दस्ती से अपने आपको फ्रान्स का सम्राट घोषित कर दिया। उस समय इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री लार्ड जान रसल और विदेश सचिव लार्ड पामर्स्टन थे। इंगलैण्ड के उस समय के शासक प्रारम्भ से ही फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति और प्रजातन्त्र के विरोधी थे। लार्ड पामर्स्टन ने न महारानी विक्टोरिया से राय ली और न पार्लियामेण्ट के अन्य सदस्यों से सलाह की और इंगलैण्ड की ओर से लूई नैपोलियन की सरकार को स्वीकार कर लिया।

इस समाचार के मिलने पर 'टाइम्स' के सम्पादक ने लार्ड पामर्स्टन और उसकी नीति के विरुद्ध 'वज्रनाद' प्रारम्भ कर दिया। 'टाइम्स' के लेखों से लूई नैपोलियन इतना विचलित हो गया कि उसने इंगलैण्ड के मन्त्रीमण्डल से 'टाइम्स' के मुंह पर लगाम लगाने की मांग की। उस समय का 'टाइम्स' मन्त्रि-मण्डल के वश का नहीं था, उसका वज्रनाद जारी रहा। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही लार्ड पामर्स्टन को विदेशमन्त्री पद से हटा दिया गया, और लगभग दो मास में लार्ड रसल का मन्त्रिमण्डल ही पदच्युत हो गया। नये प्रधानमन्त्री लार्ड डर्बी ने 'टाइम्स' की भाषा की निन्दा करते हुए 'टाइम्स' के सम्पादक को यह पाठ पढ़ाने की चेष्टा की कि पत्रकार का कर्त्तव्य है कि वह देश का शासन करने वाले राजनीतिज्ञों के उत्तरदायित्व का भागीदार हो। डिलेन ने उत्तर दिया कि पत्रकार जनता का प्रतिनिधि है, शासकों का नहीं। वह जनता के प्रति उत्तरदाता है, राज्य के प्रति नहीं। डिलेन आदर्श सम्पादक था। ऐसे ही सम्पादकों के कारण 'टाइम्स' का सिक्का

राज्य और प्रजा के हृदयों पर जमा था।

ऐसे दृष्टान्त अन्य देशों में भी मिल जायेंगे। भारतवर्ष में ऐसे पत्र तो कम हैं जिनका राज्य और प्रजा में समान रूप से असर हो, क्योंकि यहां राजा और प्रजा की राष्ट्रीयता अलग अलग है, फिर भी यहां के समाचार पत्रों की शक्ति अनेक अवसरों पर स्पष्ट रूप से प्रकट हो चुकी है। अब से २५–३० वर्ष पूर्व भारत की सरकार समाचार पत्रों की आलोचना की उपेक्षा किया करती थी। भारतीय समाचार पत्रों का प्रभाव ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों भारतीय सरकार को उनके प्रति विधान के नये-नये उपाय काम में लाने पड़े। ऐसे कठोर कानून बनाये गये, जिनका उद्देश्य पत्रों की स्वाधीनता को कुचलना था। और ऐसे प्रकाशन विभाग खोले गये, जिनका लक्ष्य भारतीय पत्रों का उत्तर देना या समाधान करना था। प्रेस संबन्धी कानून, और सरकारी प्रकाशन विभाग भारतीय पत्रों की बढ़ती हुई शक्ति के दो ज्वलन्त प्रमाण हैं।

भारत के पत्रों का इतिहास 'टाइम्स' की ऊपर दी गई घटनाओं के सदृश दृष्टान्तों से शून्य नहीं है। भारतीय समाचारपत्रों के रोमांचकारी बलिदानों की कहानी तो किसी दूसरे परिच्छेद में दी जायगी, यहां तो केवल इतना ही निर्देश करना अभीष्ट है कि भारत के अनेक राष्ट्रीय पत्रों की जीवनगाथा, वीरतापूर्ण पत्रकला के इतिहास का एक उज्ज्वल अध्याय समझी जाएगी, जिस पर भारत को अभिमान होगा। उन पत्रों के अद्भुत साहस और बलिदानों का ही फल है कि आज भारत की विदेशी सरकार को भी भारतीय पत्रों की शक्ति के

सामने सिर झुकाना पड़ता है।

शक्ति के आधार

हमने देखा कि जन्मकाल से ही समाचार पत्रों की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई है। वह यहां तक बढ़ी है कि आज उसका सिक्का राजा और प्रजा दोनों को मानना पड़ता है। अब हम इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करेंगे कि पत्रों की इस शक्ति के मौलिक कारण क्या हैं ? इस विवेचन से हमें यह निश्चय करने में सहायता मिलेगी कि पत्रों का प्रभाव भविष्य में बढ़ेगा या घटेगा ? हम यह भी जान सकेंगे कि यदि समाचार पत्र अपनी शक्ति को कायम रखना चाहते हैं तो उन्हें अपनी किन-किन विशेषताओं की रक्षा करनी चाहिये।

(क) जनता की यह भावना कि समाचारपत्र में प्रकाशित समाचार सत्य है।

समाचारपत्र बड़ी लिखी जनता की दृष्टि में संसार का वास्तविक चित्र मानकर आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यह आजकल की बात नहीं, जन्मकाल से ही पत्र के साधारण पाठक उसमें दिये गये समाचारों को सच्चा मानते रहे हैं। यह समाचार पत्र की शक्ति की आधारशिला है। यदि साधारण पाठक पत्र की बात को सच्चा न समझे तो उसे खरीदने या पढ़ने का कष्ट कभी न उठाये। समाचार पत्र में दिये गये समाचारों को साधारण पाठक तब तक निर्भ्रान्त सत्य मानते रहते हैं, जब तक उसका प्रतिवाद न हो जाय। इस भावना का आधार प्रारम्भिक समाचार पत्रों का सत्य-प्रेम है। उनके सम्पादक उन समाचारों को प्रकाशित करते

थे, जिन्हें वह सत्य समझते थे। सम्पादक की समझ में भूल हो सकती है, परन्तु यदि उसकी धारणा यह है कि जिसे वह सच-मुच सत्य समझता है उसे प्रकाशित करता है, तो पाठकों पर सचाई का प्रभाव पड़ना आवश्यक है। आदिकाल के समाचार-पत्रों में यह सत्य की भावना प्रबल थी। तब से अब तक सभी प्रभावशाली पत्रों में न्यूनाधिक मात्रा से यह धारणा विद्यमान रही है। समाचारपत्रों पर पाठकों का जितना विश्वास अब तक विद्यमान है, उसका मूलाधार पत्र सम्पादकों की सत्य भावना ही है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि पत्र-सम्पादकों में सत्य की भावना आवश्यक रूप से प्रबल रहती है। इसमें अपवाद है, और शायद समय के साथ साथ नियम की अपेक्षा अपवादों की संख्या बढ़ती जा रही है, तो भी यदि पाठकों की आस्था समाचारपत्रों में विद्यमान है तो यह उन सम्पादकों के सत्यप्रेम का परिणाम है, जिन्होंने भय या लोभ को लात मार कर यथाशक्ति सच्चे समाचारों को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। समाचारपत्रों की शक्ति का मुख्य आधार सर्व-साधारण की यह धारणा है कि उनमें छपे हुए समाचार सामा-न्यतः सत्य होते हैं।

(ग) जनता की यह भावना कि समाचारपत्र में प्रका-शित सम्मति निष्पक्ष है।

जैसे समाचारों के सम्बन्ध में सर्वसाधारण की यह भावना रहती है कि यदि वह समाचार पत्र में छप गये हैं तो सत्य ही होंगे, वैसे ही पत्र के सम्पादकीय स्तम्भों में प्रकाशित सम्म-तियों को सर्वसाधारण पाठक इस दृष्टि से देखते हैं कि वह पक्ष-

पात को छोड़ कर केवल लोकहित की दृष्टि से प्रकाशित की गई हैं। यदि यह दृष्टि न रहे तो उनका जनता के मन पर कोई असर न हो। असर होता है, इससे प्रकट है कि जनता पत्र सम्पादकों को कम से कम ईमानदार व्यक्ति अवश्य समझती है। कोई सम्मति ठीक है या गलत, यह तो सम्मति का प्रश्न है, परन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि सम्मति देने वाले ने पक्षपात छोड़कर, सचाई से सम्मति दी है, या लोभ, भय या विद्वेष की भावना से प्रेरित हो कर पक्षपात पूर्ण सम्मति प्रकाशित की है। ईमानदारी से प्रकाशित सम्मति के लिये आदर, और बेईमानी से प्रकाशित सम्मति के लिये निरादर का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

यदि राज्य और प्रजा की दृष्टि में समाचार पत्रों की सम्मतियों का कोई मान है, और यदि जनता के मस्तिष्क पर पत्रों का कोई अधिकार है, तो यह उन अनगिनत पत्रकारों के आदरणीय बलिदानों की कृपा है, जिनके नाम समाचार पत्रों के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे हुए हैं। उन पत्रकारों ने सत्य के सामने राजा के प्रसाद और धनियों की कृपादृष्टि को तृण समान समझा, उन पत्रकारों ने अर्थकष्ट को वरदान और जेल को मोक्ष मान कर सहर्ष स्वीकार किया। भय उन्हें कर्तव्य से न डिगा सका, और लोभ उन्हें बुरे मार्ग पर न ले जा सका। यह उन पत्रकारों की वीरता और त्यागभाव का ही फल है कि कई अंशों में ऊंचे आदर्शों से गिरकर भी आज का समाचार-पत्र-समुदाय शासकों के आतंक और जनता के आदर का कारण बना हुआ है। पत्रों की शक्ति का दूसरा कारण जनता

के हृदयों में बैठी हुई यह भावना है कि पत्र सम्पादक की सम्मति ईमानदारी से दी गई है, इस कारण ठीक ही है।

(ग) जनता की यह धारणा कि समाचार पत्र का लक्ष्य लोकहित है।

समाचारों की शक्ति के आधार में जनता की यह भावना भी काम करती है, कि समाचार पत्रों का वास्तविक उद्देश्य लोकहित और लोकसेवा है। यह भावना मुख्यतः दो कारणों से उत्पन्न हुई है। पहिले तो यह कारण है कि अनेक समाचार पत्रों के संचालक जिनमें भूत और वर्तमान दोनों के ही पत्रकार शामिल हैं—मुख्यतः लोकसेवा के भाव से प्रेरित होकर ही पत्र-संचालन करते रहे हैं। पत्रों की निष्पक्ष लोकसेवा का इतिहास इतना उज्ज्वल है कि उसने सम्पूर्ण समाचारपत्र-जगत् को उज्ज्वल रूप दे दिया है। दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक समाचार पत्र जन्मकाल में संसार को विश्वास दिलाता है कि उसका एकमात्र लक्ष्य लोकसेवा है और फिर समय समय पर वह इस दावे को दोहराता रहता है। पाठक समाचार पत्रों के दावे को सत्य मानने के अभ्यासी हो गये हैं, इस कारण वह यह भी विश्वास करते हैं कि समाचार पत्रों का प्रधान लक्ष्य लोकसेवा है। समाचार पत्रों की शक्ति का तीसरा कारण पाठकों की उपर्युक्त भावना है।

इस प्रकार सत्य, निष्पक्षपातता और लोकहित की भावना-पत्रों की शक्ति के यह तीन आधार हैं।

★

: १२ :

भारत में पत्रकारिता—क्या मिशन से व्यवसाय बनेगा ?

जब तक देश पराधीन था और देशवासियों का ध्यान स्वाधीनता प्राप्त करने की ओर लगा हुआ था, तब तक देश के समाचार पत्र स्पष्ट रूप से दो मार्गों में बंटे हुए थे। कुछ पत्र ऐसे थे जिनका लक्ष्य व्यवसाय था। वे संकट से भरे हुए रास्ते को छोड़ कर सदा सुरक्षित राजमार्ग पर चलना पसन्द करते थे और यह ध्यान रखते थे कि उनके किसी लेख अथवा समाचार से अधिकारियों को असन्तोष न हो। वे या तो राजनीति में उदासीन वृत्ति रखते थे अथवा सरकार के समर्थक बने रहते थे।

दूसरी श्रेणी के समाचार पत्र वे थे जिनका लक्ष्य देश को पराधीनता से मुक्त कराना था। उन्हें प्रचलित भाषा में 'मिशन वाले पत्र' कहा जा सकता है। उनका लक्ष्य धन कमाना नहीं था। इस कारण वे संकटों की परवाह न करके कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलने के लिये सदा उद्यत रहते थे।

यों तो मिशन वाले समाचार पत्रों का जन्म बहुत पहिले हो गया था। सन् ५७ की राज्यक्रान्ति के इतिहास की सामग्री

संग्रह करते हुए कई ऐसे कई समाचार पत्रों के अंक मिले हैं, जिनका उद्देश्य अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध क्रान्ति पैदा करना था। परन्तु अर्वाचीन काल में लक्ष्य सिद्धि के लिये निकाले गये समाचार पत्रों का प्रारम्भ लोकमान्य तिलक के 'केसरी' से होता है। बम्बई, कलकत्ते और मद्रास से कई प्रभावशाली समाचार पत्र इससे भी पूर्व निकल आये थे। पर वह जान हथेली पर लेकर नहीं निकले थे। उन्हें प्रचारक तो कहा जा सकता है, किन्तु सिपाही नहीं कहा जा सकता। पूना के 'केसरी' ने समाचार पत्रों की उस शृंखला का प्रारम्भ किया, जिन्हें स्वाधीनता के सिपाही कहा जा सकता है। उनका एक विशेष लक्ष्य था, जिसकी पूर्ति के लिये वे अपना सब कुछ बाजी पर रख देते थे।

देश में ज्यों-ज्यों शिक्षा की वृद्धि और स्वाधीनता प्राप्ति की भावना का प्रसार होता गया, त्यों-त्यों ऐसे समाचार पत्रों की संख्या बढ़ती गयी। यह ठीक है कि उन समाचार पत्रों पर संकट आते थे, परन्तु यह भी सत्य है कि उन संकटों का कुछ पुरस्कार भी था। संकट प्रायः उन लोगों की ओर से आते थे, समाचार पत्रों में जिनकी कड़ी आलोचना होती थी। अंग्रेजी सरकार, देशी रियासतें और कभी कभी सरकार भक्त भारतवासी भी उन समाचार पत्रों के आलोचना रूपी तीरों के शिकार बनते थे। समालोचना के उत्तर में समाचार पत्रों को जो प्रहार सहने पड़ते थे, उन्हें अस्त्रों का नाम दिया जा सकता है। सरकार के पास '१२४ ए', नरेशों के पास 'प्रिंसेज प्रोटेक्शन एक्ट' और धनी व्यक्तियों के पास 'मर्म दण्ड' आदि

अस्त्र ऐसे थे, जिनका प्रयोग बिना किसी खटके के किया जा सकता था।

यह तो थे संकट। ये असह्य हो जाते यदि इनके साथ लगे हुए पुरस्कार न होते। वे पुरस्कार जनता की ओर से प्राप्त होते थे। ध्येय पर मर मिटने वालों को ऐसे ही पुरस्कार मिलते हैं। सर्व साधारण जनता उनसे प्रेम करती थी, आदर करती थी और आवश्यकता पड़ने पर शक्ति के अनुसार उनकी आर्थिक सहायता भी करती थी।

उन दिनों पत्रकारिता एक मिशन था। पेशा नहीं था। जो पत्रकार ध्येय वाले समाचार पत्रों में काम करने जाते थे, वे अपने मन को आने वाले संकटों के लिये तैयार कर लेते थे। वे सोच लेते थे कि सम्भव है, पत्र के बन्द हो जाने के कारण हमें शीघ्र ही बेरोजगार हो जाना पड़े, पत्र के चलते रहने की दशा में भी सम्भव है निर्वाह मात्र वेतन मिले और यह भी सम्भव है कि '१२४ ए' की धारा जेल में घसीट ले जाए—ये इन सब सम्भावनाओं को मन में रख कर पत्रकार बनते थे। इस कारण उनका हृदय संतुष्ट रहता था। एक ऊँचे ध्येय की गरमी उनके शरीर को गरम रखती थी और उन्हें संकटों के नीचे दब कर मरने से बचाती थी।

अंग्रेजी सरकार और उसके सहायकों को यह आशा थी कि वे दमन के साधनों द्वारा स्वतंत्र समाचार पत्रों को या तो समाप्त कर देंगे अथवा उनके पर काट देंगे। परन्तु जनता की सहानुभूति और सहायता ने स्वतन्त्र समाचार पत्रों को न मरने दिया और न निर्बल होने दिया। दमन का प्रभाव उलटा

के समाचार पत्रों के लिये घोर प्रतिस्पर्द्धा की मुसीबत खड़ी हो गयी। उनके लिये दो ही रास्ते खुले थे—या तो ग्राहक घटने के कारण बन्द हो जाएं अथवा पृष्ठ संख्या बढ़ाकर आर्थिक बोझ के नीचे दब जाएं।

२—नये सम्पन्न समाचार पत्रों में काम करने वाले पत्रकारों का वेतन-स्तर ऊंचा हो गया। प्रत्यक्ष में यह बात पत्रकारों के लाभ की थी। प्रतिस्पर्द्धा में खड़े रहने के लिये अन्य समाचार पत्रों के संचालकों को भी वेतन स्तर ऊंचा करना पड़ा। इसका भी स्वतंत्र समाचार पत्रों की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

३—इन दोनों प्रतिस्पर्द्धाओं का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि बहुत से सामान्य स्थिति के पत्र बन्द हो गये। धीरे धीरे चलने वाले पत्रों की संख्या कम और बन्द होने वाले पत्रों की संख्या अधिक होती गयी। दृष्टान्त रूप में यदि दिल्ली को ही लें तो बात समझ में आ जायेगी। गत १५ वर्षों में इस प्रान्त में बन्द हुए हिन्दी दैनिक पत्रों की संख्या एक दर्जन से अधिक है, और इस समय चलने वाले हिन्दी दैनिकों की संख्या तीन है। जो पत्र बन्द हुए, उनके सम्पादकीय विभाग में काम करने वाले अधिकतर पत्रकार बेरोजगार हो गये और कई अब तक बेरोजगार हैं। यह ठीक है कि तीन पत्रों के पत्रकारों की स्थिति सुधर गयी, परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि उससे चौगुने पत्रों में कार्य करने वाले पत्रकारों की स्थिति बिगड़ गयी। यह अच्छा हुआ या बुरा, इसका उत्तर पाठक स्वयं दे सकते हैं। जब तक अंग्रेज भारत में रहे, तब तक ये सम्पत्ति-

वाली नये पत्र राजभक्ति और राजद्रोह के बीचोंबीच अपनी किश्ती को चलाते रहे। वे पाठकों की नब्ज को पहचानते थे और साथ ही स्वभाव से सावधान थे। इस कारण उनका बच-बच कर चलना सम्भव था।

१९४७ के अगस्त मास में भारत में स्वराज्य स्थापित हो गया। नयी परिस्थिति के धनिक समाचार पत्रों ने पूरा लाभ उठाया। अब उनके लिए उतनी सावधानता की आवश्यकता न रही, क्योंकि राजभक्ति और देशभक्ति में कोई विरोध न रहा। उनमें सब प्रकार की शक्ति अधिक मात्रा में थी। अतः राष्ट्रीय सरकार का ध्यान भी उनकी ओर ही खिंच गया। परिणाम यह हुआ कि जो मध्यम श्रेणी के स्वतंत्र समाचार-पत्र स्वाधीनता के युद्ध में वर्षों तक जूझते रहे, वे एक-एक करके बन्द होने लगे अथवा धनिक पत्रों के पेट में विलीन होने लगे। यह निश्चित बात है कि पिछले आठ वर्षों में भारत भर में जितने समाचार पत्रों का जन्म हुआ, उससे कई गुना अधिक समाचार पत्रों की मृत्यु हुई। जो जीवित रहे, उनमें से अधिकतर धनिक पत्रों के संचालकों के कुनबे में शामिल हो गये। इस उलट-फेर ने सैंकड़ों पत्रकारों को बेरोजगार करके शिक्षितों की बेरोजगारी की समस्या को बढ़ा दिया।

यही परिस्थिति थी जिसका उपाय सोचने के लिये सरकार ने प्रेस आयोग का निर्माण किया था। उसके सामने जो प्रश्न रखे गये थे, उन्हें संक्षेप में मोटे तीन प्रश्नों के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।

१. क्या यह उचित है कि समाचार पत्र धीरे धीरे कुछ

थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में आ जाएं, जो अनेक स्थानों से निकलने वाले विविध पत्रों अथवा एक ही नाम से अनेक श्रृंखलाबद्ध पत्रों द्वारा सम्पूर्ण समाचार पत्र-व्यवसाय को अपने हाथ में ले लें?

२. यह आवश्यक नहीं है कि साधारण श्रेणी के स्वतन्त्र समाचार पत्रों की रक्षा की जाए?

३. क्या पत्रकारों की स्वाधीनता और आर्थिक भलाई की रक्षा के लिये उनके वेतन स्तर और अधिकारों की कानून द्वारा रक्षा करना उपयुक्त नहीं है?

मोटे रूप में आयोग के सामने ये प्रश्न थे। आयोग ने इन प्रश्नों का थोड़ा बहुत समाधान करने का यत्न किया। उसकी रिपोर्ट पर संसद के दोनों भागों में जो वाद-विवाद हुआ, उसने प्रकट कर दिया है कि देश के प्रतिनिधियों का बहुमत आयोग की सिफारिशों के अनुकूल है। यह असंदिग्ध है कि यदि आयोग की सिफारिशों को पूरी तरह कार्यान्वित किया जाए तो अब भी समाचार पत्रों को व्यवसाय का पुछल्ला बनने से रोका जा सकता है। यदि पत्रों का ध्येय केवल अर्थोपार्जन ही हो गया, तो समाज का जितना कल्याण करेंगे उससे अधिक अकल्याण भी हो सकता है। सरकार की ओर से संसद की बहस का उत्तर देते हुए प्रसारमंत्री ने जो भाषण दिया उससे यह ध्वनित होता था कि पत्रकारों को कारखाने के मजदूरों वाला वेतनादि सम्बन्धी अधिकार देने के अतिरिक्त अन्य विषयों में सरकार पत्रकार व्यवसाय को भी प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में संघर्ष के लिये छोड़ देना चाहती है। समाचार पत्र

को साधारण व्यवसाय नहीं बनाया जा सकता, यह देश की जनता का शिक्षक है, यह लोकमत बनाता है और देश को शान्ति अथवा युद्ध की ओर ले जाने का मुख्य साधन है। सरकार यदि उसे साधारण व्यवसाय समझ कर प्रतिस्पर्द्धा के अर्पण कर देगी तो कोई ऐसा समय आयेगा जब स्वयं उसे पछताना पड़ेगा। यह अपने आपको नीति के निर्माण में पराधीन पाएगी, क्योंकि देश का लोकमत थोड़े से अर्थपतियों के हाथों में केन्द्रित हो जाएगा।

प्रसारमंत्री के भाषण से प्रतीत होता था कि अभी प्रायः सभी कुछ विचाराधीन है। आशा रखनी चाहिये कि आयोग की रिपोर्ट पर सरकारी विचार का जो पैबन्द लगेगा, उससे देश के समाचार पत्र केवल व्यवसाय के अंग न बन कर एक स्वतन्त्र गणराज्य की आत्मा के पहरेदार बने रह सकेंगे।
